सत्साहित्य प्रकाशन

हमारे संस्कार-सूत्र

भारतीय जीवन-दर्शन के मूल तत्वो पर प्रकाश डालनेवाले
सुभाषित सूत्रो का सग्रह

सपादक
लक्ष्मीराम शास्त्री



१९६६

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली

पहली बार : १९६९
मूल्य
तीन रुपये

प्रकाशकीय

'मण्डल' से हमने सुभाषितो के अनेक सग्रह प्रकाशित किये है। सुभाषितो के पठन-पाठन मे पाठको की रुचि तो होती ही है, उनसे लाभ भी होता है। उनके सृजन के पीछे जीवन की गहरी अनुभूतिया होती है। अत उन्हे पढकर पाठको के जीवन पर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप मे उनका प्रभाव भी पडता है।

इस पुस्तक के सुभाषित प्राचीन ग्रन्थो से लिये गए है, जो प्रेरणा-दायक सूत्रो का अनत भण्डार है। पाठको की सुविधा के लिए उनका वर्गीकरण भी कर दिया गया है।

जैसा कि पुस्तक के नाम से स्पष्ट है, इसमे उन सूत्रो को लिया गया है, जो जीवन को सस्कार प्रदान करने मे सहायक होते है। हमारा रहन-सहन कैसा हो, हम अपने चरित्र मे किन गुणो का समावेश करे, इन तथा ऐसे ही अनेक विषयो पर बडी मूल्यवान सामग्री इस पुस्तक मे प्राप्त होगी।

हमे विश्वास है कि पाठको के लिए यह सग्रह विशेष लाभदायक होगा। सामान्य शिक्षित पाठक भी इन सुभाषितो से लाभान्वित हो सके, इसलिए सरल भाषा मे उनका हिन्दी भावानुवाद भी दे दिया गया है।

—मन्त्री

भूमिका

पूर्व काल मे विद्या कला-कौशल, धर्म, अर्थ आदि अनेक दृष्टियों से भारत जिस प्रकार गौरवान्वित था और वर्तमान मे जो अवनति दृष्टिगोचर हो रही है, विवेकशील एव विचारवान प्रत्येक व्यक्ति उससे भली प्रकार परिचित है।

इस स्थिति मे इस देश और इस देश के निवासियों के ही नही, बल्कि मानव-मात्र के कल्याण के लिए हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियो ने धर्माचरण के परम पवित्र मार्ग की परिपुष्टि की है। महाभारत के महर्षि बादरायण ने स्पष्टतया लिखा है, "धर्म से ही अर्थ और काम की सिद्धि हो सकती है, तो फिर उसीपर आचरण क्यो न किया जाय ? इस बात का मैं हाथ ऊचा करके घोष कर रहा हूं, किन्तु मेरी कोई सुनता ही नही।" तात्पर्य यह कि अज्ञानान्धकार मे भटकते व्यक्तियों का कल्याण केवल धर्माचरण द्वारा ही हो सकता है। साथ ही पुन. महर्षि बादरायण मानव को चेतावनी देते है कि धर्म के प्रशस्त मार्ग पर चलकर ही समस्त विश्व के मनुष्य अर्थ एव काम की सिद्धि और शाश्वत शान्ति, अर्थात् मुक्ति की योग्यता भी प्राप्त कर सकता है।

इस हेतु को सुतरा हृदय मे रखते हुए भारतीय सस्कृति के ज्ञान का प्रकाश और प्रसार अत्यावश्यक जान पडता है। यह ज्ञान जिन ग्रन्थो मे निहित है, उन सभी का अवलोकन-पारायण सबके लिए सुकर एव सुलभ नही हो पाता। अत उन प्रामाणिक ग्रन्थो से [illegible] वाक्यों को सग्रह रूप मे प्रस्तुत करना मुझे श्रेयस्कर जान पडा।

तदनुसार मैने प्रामाणिक ग्रन्थो से सारभूत सुभाषित वाक्यों का सग्रह करके प्रस्तुत 'सदाचार सूत्र' की रचना की है। प्रत्येक उद्धरण का

सार रूप मे मैंने हिन्दी अर्थ भी प्रस्तुत किया है, जिससे सामान्य पाठक भी शास्त्रीय आदेशो, वचनो एवं प्रवचनो को सहज ही हृदयगम कर सके और उनमे प्रदत्त भावो पर आचरण कर सके।

यद्यपि आज भारत पूर्ण स्वतन्त्र है, भारत का प्रत्येक नागरिक भारतीय सविधान मे प्रदत्त नागरिक अधिकारो का उपभोग करके स्वच्छद आचरण करता है, तथापि जिस नैतिक स्तर की आशा-अपेक्षा की जाती है, उससे अधिकाशत सामान्य नागरिक वचित ही है। इस स्थिति मे नैतिक स्तर को उन्नत करने के लिए धर्म-नियन्त्रण ही एकमात्र अवलम्ब है। फलत धर्म नियन्त्रित स्वतन्त्रता से ही किसी भी देश, समाज और समुदाय की सहज उन्नति सम्भव है।

इसके मुद्रण-प्रकाशन आदि कार्य के लिए सुप्रसिद्ध सस्था 'सस्ता साहित्य मण्डल', प्राथमिक आर्थिक सहायता देनेवाले सेठ लक्ष्मीदास, देवीदास तथा उनके सद्‌बन्धुओ और सेठ शिवजीभाई, देवचन्द सेठिया एव हिन्दी रूपान्तर आदि मे सहयोगदाता श्री मार्तण्ड उपाध्याय को धन्यवाद देना आवश्यक कर्तव्य मानता हू।

मुझे विश्वास है कि मेरा यह प्रयास भारतीय सस्कृति के प्रचार-प्रसार मे यत्किंचित योग प्रदान करेगा और सहृदय पाठक इस सग्रह से समुचित लाभ उठायेंगे।

—लक्ष्मीराम शास्त्री

विषय-सूची

सांकेतिक शब्द-विवरण

अ० स्मृ०	अत्रिस्मृति
आ० स्मृ०	आपस्तंब
ई० उ०	ईशोपनिषद्
उ० रा०	उत्तररामचरितम्
क० उ०	कठोपनिषद्
का० नी०	कामन्दकीय नीतिः
का० सू०	काणादसूत्रम्
कू० पु०	कूर्मपुराणम्
कौ० अ०	कौटलेयार्थशास्त्रम्
ग० सा०	गरुडपुराण-सार.
च० सू०	चरक-सूत्रस्थानम्
चा० नी०	चाणक्यनीति
तै० उ०	तैत्तिरीयोपनिषद्
द० स्मृ०	दक्षस्मृतिः
ना० उ०	नारायणोपनिषद्
ना० स्मृ०	नारदस्मृति
नी०म०व०मी०	नीतिमयूखवराह मिहिर
नै० का०	नैषधकाव्य
पं० तं०	पंचतंत्रम्
पा० यो०	पातञ्जलयोगदर्शनम्
पा० स्मृ०	पाराशर स्मृ०
ब्र० पु०	ब्रह्मपुराणम्
भ० गी०	भगवद्गीता
भ० नी०	भर्तृहरिनीतिशतकम्
भ० वै०	भर्तृहरिवैराग्य-शतकम्
भा० कि०	भारविकिरातार्जु-नीयम्
भा० सा०	भारतसावित्री
म० भा०	महाभारतम्
म० भा० अ०	महाभारत-अनुशासन०
म० भा० उ०	महाभारतउद्योगपर्व
म०भा०व०प०	महाभारतवनपर्व।
म० भा० शा०	महाभारतशान्तिपर्व
म० स्मृ०	मनुस्मृति
या० स्मृ०	याज्ञवल्क्य-स्मृति.
यो०सू०यो०द०	योगसूत्रम्,
र० का०	रघुवंशकाव्यम्
व० स्मृ०	वसिष्ठस्मृतिः
वा० प०	वाचस्पत्यकोषः
वा० रा०	वाल्मीकीय-रामायणम्
वि० ध०	विष्णुधर्मोत्तरम्
वि० नी०	विदुरनीति म० भा० उ० प०
वि० पु०	विष्णुपुराणम्
वै० मु० भा०	वैद्यक भावमिश्र
शि० उ०	शिवोपनिषद्
श्री० भा०	श्रीमद्भागवतम्
सु० र० भा०	सुभाषितरत्न-भाण्डागारम्
हि०	हितोपदेशः

हमारे
संस्कार-सूत्र

प्रार्थना

सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु ।
सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु ।
मा विद्विषावहै । ॐ शांतिः शांतिः शांतिः ।

(क० उ०)

वह (परमात्मा) हम दोनो (गुरु-शिष्य) की रक्षा करे। हम दोनो का उपयोग करे। हम दोनो एक साथ पुरुपार्थ करे। हमारी विद्या तेजस्वी हो। हम एक-दूसरे का द्वेष न करे। ॐ शान्ति. शान्ति शान्ति ।

असतो मा सद्‌गमय ।
तमसो मा ज्योतिर्गमय ।
मृत्योर्माऽमृतं गमय ।

(बृ० उ० १।३।२८)

(हे प्रभो !) मुझे असत्य से सत्य की ओर ले जा, अधकार से प्रकाश की ओर ले जा, मृत्यु से अमृत—अमरता की ओर ले जा ।



: १ :

ब्रह्म

रसो वै सः ॥

सत्यं विज्ञानमानंदं ब्रह्म ॥ (श्रुतिः)

रस ही ब्रह्म है ।

सत्य (नित्य) विज्ञान और आनन्द-रूप ब्रह्म है ।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥
(भ० गी० १५।१५)

सबके हृदय मे अधिष्ठित मेरे द्वारा स्मृति, ज्ञान और उनका अभाव होता है। समस्त वेदो द्वारा जानने योग्य मैं ही हू, वेदो को जाननेवाला मैं हू, वेदान्त (वेदतत्त्व) को प्रकट करनेवाला भी मै ही हू ।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षर. सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मिलोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥
(भ० गी० १५।१६-१८)

इस लोक मे क्षर अर्थात् नाशवान-देहधारी और अक्षर अर्थात् अवि-

नामी दो पुरुष हैं । प्राणी जीव मात्र क्षर है और उनमे जो स्थिर रहने-वाला व्यापक है, वह अक्षर कहलाता है ।

इनके सिवा उत्तम पुरुष और है । वह परमात्मा कहलाता है । यह सच्चिदानन्द अव्यय ईश्वर तीनों लोकों मे प्रवेश करके उनका पोषण करता है ।

क्योंकि मैं क्षर से परे और अक्षर से भी उत्तम हूं, इसलिए वेदों और लोकों मे पुरुषोत्तम नाम से जाना जाता हूं ।

: २ :

धर्म

धर्मंचर ॥

(तै० उ० १।११।१)

धर्म का आचरण कर ।

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा ॥

(ना० उ०)

धर्म सम्पूर्ण जगत का आधार है ।

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ॥

(का० सू०)

धर्म वह है, जिससे लौकिक और अलौकिक सुख (मोक्ष) की सिद्धि हो ।

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः ।
यः स्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥

(म० शा० १२।१०८।११)

धारण करने के कारण उसे 'धर्म' कहा जाता है। धर्म ने ही सारी प्रजा को टिका रखा—धारण किया हुआ है। धारण करने की शक्ति-वाला ही धर्म है।

धर्मे यत्नः सदा कार्यो धर्म एकः सुखावहः।
धर्मेण पाल्यते सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम्॥
(वि० ध० ३।२५५)

धर्म की प्रवृत्तियो मे निरन्तर लगे रहना चाहिए। धर्म ही एक अकेला सुख देनेवाला है। धर्म के द्वारा ही चर-अचर-सहित तीनो लोको की रक्षा होती है।

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाश सर्वमन्यत्तु गच्छति॥
(म० स्मृ० ८।१७)

धर्म ही सुहृद् (मित्र) है। मृत्यु के वाद वही जीव के साथ जाता है, अन्य वस्तुए तो शरीर के साथ यही नष्ट हो जाती है।

आधिव्याधिपरीताय अद्य श्वो वा विनाशिने।
को हि नाम शरीराय धर्मापेत समाचरेत्॥
(का० नी० ३।६)

यह शरीर नाशवान है। आज या कल इसका नाश अवश्य होगा। आधि और व्याधि से यह घिरा हुआ है। ऐसे शरीर के लिए धर्म-रहित आचरण भला कौन करेगा ?

न जातु कामान्न भयान्न लोभा-
द्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।

धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥
(भा० सा०)

अपनी किसी इच्छा की तृप्ति के लिए, या भय से, लोभ से या प्राणो की रक्षा के विचार से भी धर्म को नही छोडना चाहिए, क्योंकि धर्म नित्य है, (पर उसे बंधन मे डालनेवाला) शरीर नश्वर है।

आहार-निद्रा-भय-मैथुनं च
सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥
(चा० नी० १७।१७)

आहार, निद्रा, भय और स्त्री-संग—ये लक्षण तो मनुष्य और पशु दोनो मे समान हैं। केवल धर्म ही मनुष्यों मे एक विशेष लक्षण होता है। (इसीलिए) धर्म-रहित मनुष्य पशुओं के समान ही होते है।

येषां न विद्या न तपो न दानं
ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मृत्युलोके भुवि भारभूता
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥
(भर्तृ० नीति० १३)

जिन मनुष्यों मे विद्या नही है, तप नही है, दान (त्याग-भावना) नही है, ज्ञान नही है, शील नही है, गुण नही है, और धर्म भी नही है, वे इस मृत्युलोक मे भूमि पर भार बनकर मनुष्य के रूप मे पशु के समान विचरते हैं।

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
सम्यक्संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम् ॥
(या० स्मृ० १।७)

श्रुति, स्मृति, अच्छा आचरण, अपनी आत्मा की प्रीति और उत्तम सकल्प द्वारा हुआ कार्य यही धर्म का मूल है ।

: ३ :

यम-नियम

आनृशस्यं क्षमा सत्यमहिंसा दानमार्जवम् ।
प्रीतिः प्रसादो माधुर्यं मार्दवं च यमा दश ॥
(अ० स्मृ० ४८)

दया, सहनशीलता, सत्य, अहिंसा, त्याग, सरलता, प्रेम प्रसन्नता, मधुरता और कोमलता—ये दस यम है ।

शौचमिज्या तपो दानं स्वाध्यायोपस्थनिग्रहौ ।
व्रतमौनोपवासं च स्नानं च नियमा दश ॥
(अ० स्मृ० ४९)

शुचिता, यज्ञ, तप, दान, स्वाध्याय, इद्रिय-निग्रह, व्रत, मौन, उपवास तथा स्नान ये दस नियम है ।

यमान्सेवेत सततं न नित्यं नियमान्बुधः ।
यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान्केवलान्भजन् ॥
(अ० स्मृ० ४७)

मनुष्य को सदा यमो का व्यवहार करना चाहिए । केवल नियमो का

ही नित्य व्यवहार करना पूर्णता नहीं है । केवल नियमों का पालन करने-वाला और यमों की उपेक्षा करनेवाला मनुष्य पतित हो जाता है ।

> इन्द्रियाणां जयो लोके दम इत्यभिधीयते ।
> नादान्तस्य क्रियाः काश्चिद्भवन्तीह द्विजोत्तमाः ॥
>
> (वि० ध० ३।२६४।२)

इन्द्रियों का जीतना दम कहा जाता है । जो मनुष्य इन्द्रियों को नहीं जीत पाता है, उसका कोई भी काम पूरा नहीं होता है ।

> इंद्रियाणां प्रसंगेन दोषमृच्छति मानवः ।
> सनियम्य तु तान्येव सिद्धिं समधिगच्छति ॥
>
> (म० स्मृ० २।९३)

इन्द्रियों में विशेष अनुराग रखने पर मनुष्य दोष को प्राप्त होता है । उन्हीं इन्द्रियों के प्रति संयम बरतने से वह सिद्धि प्राप्त करता है ।

: ४ :

सत्य

सत्यं वद ।　　　　(शि० उ०)

सच बोलो ।

> सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ।
>
> (यो० द० २।३६)

सत्य में प्रतिष्ठा प्राप्त करने से किये गए कामों के परिणाम अपने-आप मिल जाते हैं ।

सत्येन विधृतं सर्वं सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ।

(म० भा० १२।२५६।१०)

सत्य ने सबको धारण किया हुआ है, और सबकुछ सत्य के आधार से ही टिका हुआ है ।

आहुः सत्यं हि परमं धर्मं धर्मविदो जनाः ।

(वा० रा० २।१४।२-३)

धर्म को जाननेवाले लोग सत्य को परम धर्म कहते है ।

नास्ति सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम् ।

(म० भा० १२।१६२।२४)

सत्य से उत्तम कोई दूसरा धर्म नही है और असत्य से बडा कोई पाप नही है ।

न ह्यसत्यात्परोऽधर्म इति होवाच भूरियम् ।
सर्वं सोढुमलं मन्ये ऋतेऽलीकपरं नरम् ॥

(श्री० भा० ८।२०।४)

पृथिवी माता कहती है—असत्य से बढकर दूसरा अधर्म नही है। मैं सबकुछ सह सकती हू, परन्तु झूठे मनुष्य का भार मेरे लिए असह्य है ।

सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव ।

(म० भा० ५।३३।५२)

जिस प्रकार समुद्र पार करने का साधन नौका है, उसी प्रकार स्वर्ग प्राप्त करने की सीढी सत्य है ।

अश्वमेधसहस्रं तु सत्य च तुलया धृतम् ।
अश्वमेध-सहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥

(म० भा० १२।१६२।२६)

हजार अश्वमेध और सत्य को तराजू के दोनों पलडों में रखें तो सत्य का पलडा हजारों अश्वमेध से बढ जाता है।

यद्भूतहितमत्यन्तं तत्सत्यमिति धारणा।

(म० भा० ३।२०६।४)

अगर कोई चीज अत्यन्त हितकारी है तो वह सत्य ही है।

न सा सभा यत्र न संति वृद्धा
न ते वृद्धा ये न वदंति धर्मम्।
नाऽसौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति
न तत्सत्यं यच्छलेनानुविद्धम् ॥

(म० भा० ५।३५।५८)

वह सभा सभा नहीं कही जा सकती, जिसमें वृद्ध न हों, जो धर्म की बात नहीं कहते वे वृद्ध वृद्ध नहीं, जिसमें सत्य नहीं होता वह धर्म धर्म नहीं होता और जिसमें छल हो वह सत्य सत्य नहीं होता।

कायेन कुरुते पापं मनसा संप्रधार्य तत्।
अनृतं जिह्वया चाह त्रिविधं कर्म पातकम् ॥

(वा० रा० २।१०९।२१)

मनुष्य पहले मन से पाप करने का संकल्प करता है, उसे व्यवहार में लाने के लिए जिह्वा द्वारा असत्य भाषण करता है। उसके बाद शरीर के द्वारा उसे करता है। इस प्रकार एक साथ वह तीन प्रकार के—मानसिक, वाचिक और कायिक पाप करता है।

वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः।
तां तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः ॥

(म० स्मृ० ४।२५६)

वाणी मे सब अर्थ समाहित है, वाणी ही उनका मूल है और वाणी मे से ही उनकी निष्पत्ति है। इस कारण वाणी की जो चोरी करते है, अर्थात् झूठ बोलते है, वे सब अर्थो की चोरी करनेवाले होते है।

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः॥

(म० स्मृ० ४।१३८)

सत्य बोलो, पर प्रिय बोलो, सत्य होते हुए भी सुननेवाले को अप्रिय लगे, ऐसा न बोलो। इसी प्रकार प्रिय लगनेवाला असत्य भी न बोलो, यही सनातन धर्म है।

सत्यं च समता चैव दमश्चैव न संशयः।
अमात्सर्यं क्षमा चैव ह्रीस्तितिक्षाऽनसूयता॥
त्यागो ध्यानमथार्यत्वं धृतिश्च सततं दया।
अहिंसा चैव राजेन्द्र सत्याकारास्त्रयोदशाः॥

(म० भा० शां० १६२।८,६)

हे राजेन्द्र, सत्य के ये तेरह रूप है—अपक्षपात, इन्द्रिय-निग्रह, ईर्ष्या न करना, सहिष्णुता, लज्जा, दुःख-सहन, गुण मे दोष न देखना, दान, ध्यान, उत्तमता, धारणा, दया और अहिंसा।

: ५ :

अहिंसा

अहिंसा परमो धर्मः।

(म० भा० ३।२०७।७४)

अहिंसा परम धर्म है।

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ।

(यो० सू० २।३५)

जिस मनुष्य ने अहिंसा को पूरी तरह सिद्ध कर लिया है, उनके पास आये हुए शत्रु के हृदय में से वैर-भाव नष्ट हो जाता है।

यद्ध्यायति यत्कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च ।
तदवाप्नोत्ययत्नेन यो हिनस्ति न कञ्चन ॥

(म० स्मृ० ५।४७)

जो मनुष्य कभी हिंसा नहीं करता, वह जिस वस्तु का ध्यान करता है और उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, पूरी धारणा करता है, उसे वह सरलता से प्राप्त कर लेता है।

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया ।
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित् सुखमेधते ॥

(म० स्मृ० ५।४५)

जो मनुष्य अपने सुख की इच्छा से किसी प्राणी की हिंसा करता है वह जीवित रहते हुए भी मरे के समान होता है और कहीं भी सुख नहीं प्राप्त कर सकता।

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकाः ॥

(म० स्मृ० ५।५१)

हिंसा का अनुमोदन करनेवाले, प्राणियों के अंग-भंग करनेवाले, हिंसा करनेवाले, मांस बेचने, खरीदने, पकाने परोसने और भक्षण करनेवाले, ये सब हिंसक माने जाते हैं।

सर्वेषामपि पापानां हिंसा परमिहोच्यते ।
हिंसा बलमसाधूनां हिंसा लोकद्वयापहा ।।
(वि० ध० ३।१।२५२)

हिंसा करना सबसे बडा पाप है। दुर्जनो का बल हिंसा है। हिंसा लोक और परलोक दोनो का नाश करनेवाली होती है।

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनु :।।
(म० स्मृ० १०।६३)

अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना) शुचिता और इन्द्रिय-निग्रह—इन चारो को सभी वर्णो का धर्म मनु ने सक्षेप मे कहा है।

अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता।
भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः।।
(श्री० भा० ११।१७।२१)

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, काम-क्रोध-लोभ से रहित रहना और प्राणियो की प्रिय और हितकारिणी चेष्टा मे तत्पर रहना—ये सब वर्णों के सामान्य धर्म है।

शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते।
द्विजातीनां च वर्णाना विप्लवे कालकारिते।।
आत्मनश्च परित्राणे दक्षिणानां च सगरे।
स्त्रीविप्राभ्युपपत्तौ च घ्नन्धर्मेण न दुष्यति।।
(म० स्मृ० ८।३४८-४९)

जहा धर्म का पालन करने से लोगों को रोका जाता हो तथा अराजकता मे विप्लव की सभावना हो, वहा तीनो वर्णों के लोगो को हाथ मे शस्त्र ले लेना चाहिए। अपने प्राणो की रक्षा के लिए, यज्ञ की दक्षिणा, गाय या धन की रक्षा के लिए तथा ब्राह्मण एव स्त्री की रक्षा के लिए अगर मनुष्य धर्म (नीति) से हिंसा करता है तो वह दोषी नही होता है।

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।
क्षेत्रदारापहारी च षडेते आततायिनः॥
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन॥

(म० स्मृ० ८।३५१)

आग लगानेवाले, जहर देनेवाले, निरपराधियों की हिंसा के लिए हमेशा शस्त्र पास मे रखनेवाले, धन लूटनेवाले, जमीन छीननेवाले तथा स्त्री-हरण करनेवाले—ये छः प्रकार के लोग आततायी कहे जाते हैं। आततायियों का वध करने मे कोई दोष नही है।

ऋतं च सूनृता वाणी कविभिः संप्रकीर्तिता॥

(श्री० भा० ११।१९।३८)

कवियो ने ऋत-सत्य को मगलकारी वाणी कहा है।

कामान्दुग्धे विप्रकर्षत्यलक्ष्मीं कीर्तिं सूते दुष्कृतं या हिनस्ति।
तां चाप्येतां मातरं मङ्गलानां धेनुं धीराः सूनृतां वाचमाहुः॥
ऋषयो राक्षसीमाहुर्वाचमुन्मत्तदृप्तयोः।
सा योनिः सर्ववैराणां सा हि लोकस्य निर्ऋतिः॥

(उ० रा०)

जो वाणी मनोरथ पूर्ण करती है, अलक्ष्मी—अशुभ को दूर करती

है, कीर्ति उत्पन्न करती है और पाप का नाश करती है, सब मगलो की जननी-रूप उस शुभ वाणी को धीरवान् पुरुष 'सूनृता वाणी' कहते है ।

ऋषि लोग गर्वीले और पागल हुए मनुष्य की वाणी को राक्षसी वाणी कहते है, क्योकि वह सभी विवादो की मूल है और वही लोगो की अलक्ष्मी—अमगल—मृत्यु-रूप है ।

: ६ :

अस्तेय

मा गृध कस्यस्विद्धनम् ।

(ई० उ०)

किसी दूसरे के धन की इच्छा मत रखो ।

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ।

(यो० सू० २।३७)

जिसने अस्तेय (चोरी न करने के) धर्म मे प्रतिष्ठा की प्राप्ति की उसके पास सारे रत्न उपस्थित रहते है ।

उपायैर्विविधैरेषां छलयित्वाऽपकर्षणम् ।
सुप्तमत्तप्रमत्तेभ्यः स्तेयमाहुर्मनीषिण ।।

(ना० स्मृ० व्य० प०१४।१७)

सोये हुए, पागल या गाफिल मनुष्य से किसी भी उपाय से छल करके कोई वस्तु लेना चोरी कहलाता है ।

: ७ :

संयम

यो दयावान्स पुरुषो निर्घृणो राक्षसो मतः ।
राक्षसानामपि घृणा विद्यते द्विजसत्तमाः ॥
(वि० ध० ३।२८२।१)

जो निःस्वार्थ दयावान् है वह मनुष्य है और जो दयाहीन है वह राक्षस कहलाता है, क्योंकि हे ब्राह्मणो, राक्षसो मे भी तो स्वार्थ दया होती है ।

नारुन्तुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः ।
ययाऽस्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत् ॥
(म० स्मृ० २।१६१)

स्वयं कष्ट पाते हुए भी दूसरे को कष्ट नही पहुचाये, परद्रोह के कार्य मे वृत्ति न रखे और ऐसी अशुभ वाणी भी न बोले कि जिससे दूसरो को कष्ट पहुचता हो ।

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुद्ध्यते ।
सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति ॥
(म० स्मृ० २।१६३)

क्षमा धर्मः क्षमा सत्य क्षमा शौचं क्षमा बलम् ।
एकः क्षमावतां दोषो द्वितीयो नोपलभ्यते ।
यदेनं क्षमया युक्तं त्वशक्तं मन्यते जनः ॥
विज्ञेयः सोऽपि दोषोऽस्य द्विजेन्द्राः स महान्गुणः ।
तस्माद्गुण्यक्षमादानादुच्छ्हलंघ समर्पणान् ॥
(वि० ध० ३।२६९।२, ४, ५)

सहनशील मनुष्य सुख से सोता है, जागता है और घूमता है, परन्तु उसका अपमान करनेवाला (व्यक्ति) मन मे जलता हुआ विनाश को प्राप्त होता है ।

क्षमा (सहनशीलता) ही धर्म, क्षमा ही सत्य, क्षमा ही शौच और क्षमा ही वल है ।

क्षमावान् पुरुप मे एक ही दोप दिखाई देता है, दूसरा नही । क्षमा से युक्त होने के कारण लोग उसे कमजोर समझ लेते है । हे ब्राह्मणो, उसका वह दोष भी उसके लिए बडा गुण ही है, क्योकि क्षमावान् मनुष्य इसके कारण इसका पुण्य प्राप्त कर लेते है और इसको अपना पाप देते है ।

मृदुरित्यवजानन्ति तीक्ष्ण इत्युद्विजन्ति च ।
तीक्ष्णकाले भवेत्तीक्ष्णो मृदुकाले मृदुर्भवेत ॥
(म० भा० १२।१४०।६५)

मनुष्य सदा कोमल स्वभाव का रहे तो लोग शात समझकर उसका अपमान करने लगते है और अगर वह सदा उग्र रहे तो कठोर समझकर उससे उद्वेग पाते है । इस कारण मनुष्य को मधुरता के समय कोमल और कठोरता के समय उग्र रहना चाहिए ।

न श्रेयः सतत तेजो न नित्य श्रेयसी क्षमा ।
तस्मान्नित्यं क्षमा तात पण्डितैरपवादिता ॥
(म० भा० व० प० २८।६८)

उग्रता हमेशा श्रेयस्कर नही होती, उसी प्रकार क्षमा भी सदा श्रेय-रूप नही है । इस कारण पडितो ने सदा ही क्षमा का बरताव करने को मना किया है ।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाऽव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥
यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृतिः सा पार्थ राजसी ॥
यया स्वप्नं भय शोकं विषादं मदमेव च ।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृति. सा पार्थ तामसी ॥
(भ० गी० १८।३३-३५)

हे पार्थ, जिस एकनिष्ठ धृति (भाव) से मनुष्य मन, प्राण, और इन्द्रियों की क्रिया को साम्य (अनासक्त) बुद्धि से धारण करता है, वह धृति सात्विकी है ।

हे पार्थ, जिस एकनिष्ठ धृति से मनुष्य फल की कामना करता हुआ धर्म, काम और अर्थ को आसक्तिपूर्वक धारण करता है, वह धृति राजसी है ।

जिस धृति से दुर्बुद्धि मनुष्य निद्रा, भय शोक, निराशा और मद को छोड नही सकता, हे पार्थ, वह तामसी धृति है ।

: ८ :

संतोष

सतोषं परमास्थाय सुखार्थी सयतो भवेत् ।
संतोषमूलं हि सुख दु.खमूलं विपर्ययः ॥
(म० स्मृ० ४।१२)

सुख चाहनेवाले मनुष्य को सतोषी और सयमी होना चाहिए, क्योकि सतोष से ही सुख मिलता है, असतोष दुःख का मूल है ।

संतोषस्त्रिषु कर्तव्यः स्वदारे भोजने धने ।
त्रिषु चैव न कर्तव्योऽध्ययने जपदानयोः ।।
(चा० नी० ७।४)

अपनी पत्नी, अपने भोजन तथा अपने धन मे ही सतोष रखना चाहिए। परन्तु विद्याभ्यास, जप और दान इन तीनो मे सतोष नही करना चाहिए।

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद्विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ।।
(म० स्मृ० ४।१६०)

सब पराधीन कार्य दु ख रूप है, और जो स्वाधीन है, वह सुखरूप है। सक्षेप मे यही दु ख और सुख का लक्षण है।

सात्त्विकं सुखमात्मोत्थं विषयोत्थं तु राजसम् ।
तामसं मोहदैन्योत्थं निर्गुणं मदपाश्रयम् ।।
(श्री० म० ११।२५।२९)

आत्मचिंतन से प्राप्त सुख सात्विक, विपयो से प्राप्त होनेवाला सुख राजस तथा अज्ञान और दीनता से प्राप्त सुख तामस तथा जो सुख मेरे (परमात्मा के) आश्रय से मिलता है, वह सुख गुणातीत है।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ।।
विषयेन्द्रियसंयोगाद् यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ।।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥
(भ० गी० १८।३६-३८)

जो आरंभ में विष के समान लगता है, परिणाम में अमृत-जैसा होता है; जो आत्म-ज्ञान की प्रसन्नता में से उत्पन्न होता है, वह सात्विक सुख कहलाता है।

विषय और इन्द्रियों के संयोग से जो आरम्भ में अमृत के समान लगता है, पर परिणाम में विष के समान होता है, वह सुख राजस कहा गया है।

जो आरंभ में और परिणाम में आत्मा को मोहग्रस्त करनेवाला और निद्रा, आलस्य तथा प्रमाद में से उत्पन्न हुआ है, वह तामस सुख कहलाता है।

वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा।
सर्वान् संसाधयेदर्थानक्षिण्वन् योगतस्तनुम् ॥
(म० स्मृ० २।१००)

इन्द्रियों को वश में करके, मन को रोककर और अन्य उपायों से, देह को क्षीण न करते हुए, उचित उपाय से मनुष्य को सभी पुरुषार्थों का संपादन करना चाहिए।

धर्मार्थकाममोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते।
अजागलस्तनस्येव तस्य जन्म निरर्थकम् ॥
(सु० र० भा० १५६।७५५)

जिस मनुष्य ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार में से एक भी पुरुषार्थ को सिद्ध नहीं किया, उसका जन्म बकरे के गले में लटकनेवाले स्तन के समान निरर्थक है।

: ६ :

दया-करुणा

दयया सर्वभूतेषु संतुष्ट्या येन केन वा ।
सर्वेन्द्रियोपशान्त्या च तुष्यत्याशु जनार्दनः ।।

(श्री० भा० ४।३१।१९)

प्राणिमात्र मे दया रखने, जो कुछ मिले उसीसे सतोष रखने तथा इद्रियो के शमन करने से भगवान तुरत प्रसन्न होते है ।

एतावान्हि प्रभोरर्थो यद् दीनपरिपालनम् ।

(श्री० भा० ८।७।३८)

समर्थ मनुष्य की शक्ति का प्रयोजन ही यह है कि वह दीनो का परिपालन करे ।

पुंसः कृपयतो भद्रे सर्वात्मा प्रीयते हरिः ।
प्रीते हरौ भगवति प्रीयेऽहं सचराचरः ।।

(श्री० भा० ८।७।४०)

(श्री शकर भगवान पार्वती से कहते है) प्राणियो पर दया करनेवाले मनुष्य पर सर्वात्मा भगवान प्रसन्न होते है और भगवान के प्रसन्न होने पर, हे कल्याणि, स्थावर जगमो का आत्मा मे प्रसन्न होता हूँ ।

द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः ।
भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शांतिमृच्छति ।।
अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयाऽनघे ।
नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः ।।

(श्री० भा० ३।२९।२३-२४)

जो भेद दृष्टि रखनेवाले, अभिमानी पुरुष जीवों को पीड़ा पहुंचाते हैं और लोगों से वैर-भाव रखते हैं, उन्हें मन की शांति नहीं मिलती। जो अन्य जीवों का अपमान करते हैं, वे विविध द्रव्यों द्वारा मेरी क्रिया-पूजन करें तो भी मैं उनपर प्रसन्न नहीं होता।

नातिप्रसीदति तथा विविधोपचारै—
राराधितः सुरगणैर्हृदि बद्धकामैः ॥
यत्सर्वभूतदययाऽसदलभ्ययैको
नानाजनेष्ववहितः सुहृदन्तरात्मा ॥
(श्री० भा० ३।९।१२)

आप (परमात्मा) सब लोगों के हृदयों में विराजमान हैं। सबके सुहृद् और अंतर्यामी हैं, इसलिए देवता भी अपने हृदय में तरह-तरह की कामनाएं रखकर विविध सामग्रियों से आपका पूजन करते हैं। पर उससे आप उतने प्रसन्न नहीं होते जितने सब प्राणियों पर दया करने से होते हैं। सब प्राणियों के प्रति यह दया असत् पुरुषों में अत्यन्त दुर्लभ होती है।

सर्वाणि मद्धिष्ण्यतया भवद्भि-
श्चराणि भूतानि सुता ध्रुवाणि ।
संभावितव्यानि पदे पदे वो
विविक्तदृग्भिस्तदुहार्हणं मे ॥
(श्री० भा० ५।५।२६)

(ऋषभदेवजी अपने पुत्रों से कहते हैं) हे पुत्रो, तुम संपूर्ण चराचर भूतों को मेरा ही शरीर समझकर शुद्ध बुद्धि से उनकी सेवा करो, यही मेरी सच्ची पूजा है।

अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम् ।
अर्हयेद् दानमानाभ्यां मैत्र्याऽभिन्नेन चक्षुषा ।।

(श्री० भा० ३।२९।२७)

सभी प्राणियो मे आत्म-रूप से मै रहता हू। अत मुझे पूजनेवालो को उन प्राणियो का यथायोग्य दान, मान, मित्रता के व्यवहार तथा सम-दृष्टि के द्वारा पूजन करना चाहिए।

तितिक्षया करुणया मैत्र्या चाखिलजन्तुषु ।
समत्वेन च सर्वात्मा भगवान्संप्रसीदति ।।
संप्रसन्ने भगवति पुरुषः प्राकृतैर्गुणैः ।
विमुक्तो जीवनिर्मुक्तो ब्रह्म निर्वाणमृच्छति ।।

(श्री० भा० ४।११।१३-१४)

अपने से बडो के प्रति सहिष्णुता, छोटो के प्रति दया, बराबरवालो के साथ मित्रता और समस्त जीवो के प्रति समभाव रखने से सर्वात्मा श्रीहरि प्रसन्न होते है।

भगवान् जब प्रसन्न होते है, तब पुरुष अपने प्राकृत गुण एव उनके कार्य-रूप लिंग-शरीर से छूटकर परमानन्द स्वरूप ब्रह्म-पद को प्राप्त कर लेता है।

मय्यर्पितात्मनः पुंसो मयि संन्यस्तकर्मणः ।
न पश्यामि परं भूतमकर्तुः समदर्शनात् ।।

(श्री० भा० ४।२९।३३)

(देवहूती से कपिल भगवान ने कहा) जिस मनुष्य ने अपना मन मुझमे अर्पण कर दिया है, और अपने सारे कर्म मुझे समर्पित कर दिये है, ऐसे समदर्शी और अनासक्त पुरुष की अपेक्षा, अन्य किसीको मै श्रेष्ठ नही मानता।

: १० :

तप और यज्ञ

यद्दुस्तरं यद्दुराप यद्दुर्गं यच्च दुष्करम् ।
सर्वं तत्तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम् ॥
(वि० ध० ३।२६६।१३)

जो भी कष्ट से पार किया जानेवाला, कष्ट से प्राप्त होनेवाला और कष्ट से पहुंचा जानेवाला दुष्कर होगा वह तप के द्वारा ही साध्य होता है। तप के सामर्थ्य को पार नहीं किया जा सकता।

यत्किञ्चिदेनः कुर्वन्ति मनोवाक्कर्मभिर्नराः ।
तत्सर्वं विनुदन्त्याशु तपसैव तपोधनाः ॥
(वि० ध० ३।२६६।१५)

मनुष्य मन, वचन और कर्म से जो कुछ पाप करते हैं, वे सब, हे तपोधन, तप के द्वारा ही नष्ट हो सकते हैं।

यस्मिन्कर्मण्यपि कृते मनसः स्यादलाघवम् ।
तस्मिंस्तावत्तपः कुर्याद्यावत्तुष्टिकरं भवेत् ॥
(वि० ध० ३।२६६।१४)

जब किसी कार्य को करने के बाद मन में भार का अनुभव होता हो तो जहांतक मन में सन्तोष न हो तबतक तप करना चाहिए।

देवाधीनाः प्रजाः सर्वा यज्ञाधीनाश्च देवताः ।
यज्ञो हि भगवान्विष्णुर्यत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥
यज्ञश्च भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञपरो भवेत् ॥
(वि० ध० ३।२६२।१-२)

सारी प्रजाए देवो के अधीन है और देवता यज्ञ के अधीन है, क्योकि यज्ञ स्वय भगवान विष्णुरूप है। यह यज्ञ सबोके सुख के लिए है। इसलिए यज्ञपरायण बनना चाहिए।

देवान्भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्पर भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥
(भ० गी० ३।११)

तुम यज्ञ द्वारा देवताओ का पोपण करो और देवता तुम्हारा पोषण करे। इस प्रकार एक-दूसरे का पोपण करके तुम परम कल्याण को प्राप्त करो।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥
(भ० गी० ३।१२)

यज्ञ द्वारा सतुष्ट हुए देवता तुम्हे इच्छित भोग देगे। उनका वदला दिये विना, उनका दिया हुआ जो भोगेगा वह अवश्य चोर है।

दानं देवाः प्रशंसन्ति मनुष्याश्च तथा द्विजाः।
दानेन कामानाप्नोति यान्कांश्चिन्मनसेच्छति ॥
काले पात्रे तथा देशे धनं न्यायागतं तथा।
यद्दत्तं ब्राह्मणश्रेष्ठास्तदनन्तं प्रकीर्तितम् ॥
(वि० ध० ३।३००।१,१४)

देवता और मनुष्य दान की प्रशसा करते है। मन से जिस किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा की जाती है, वह दान के द्वारा प्राप्त होती है।

उचित काल, पात्र तथा देश मे नीति द्वारा जो धन प्राप्त हो तथा जो दिया जाय वह अत्यन्त शुभ फल देनेवाला होता है ।

अहिंसा सूनृता वाणी सत्यं शौचं दया क्षमा ।
वर्णिनां लिङ्गिनां चैव सामान्यो धर्म उच्यते ॥
(का० नी० ३।३२)

अहिंसा, सच्ची और प्रिय वाणी बोलना, सत्य, शौच (पवित्रता) दया और क्षमा ये सब वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) और सब आश्रमो (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास) के लोगो के सामान्य धर्म कहे जाते हैं ।

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम् ।
तद्ध्यग्रं सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥
(म० स्मृ० १२।८४)

सब ज्ञानो मे आत्म-ज्ञान ही उत्तम है, कारण कि वह सब ज्ञानो मे अग्रणी और मोक्षदायी है ।

: ११ :

इंद्रिय-जय

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान्यन्तेव वाजिनान् ॥
(म० स्मृ० २।८८)

जैसे घोडो को रोकने के लिए सारथी प्रयत्न करता है, उसी प्रकार

मन को हरण करनेवाले विषयो मे विचरनेवाली इन्द्रियो को बुद्धिमान मनुष्य वश मे करने का प्रयत्न करे।

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम् ॥

(म० स्मृ० २।९९)

सब इद्रियो मे से अगर कोई एक भी इद्रिय स्वच्छदी होकर आचरण करने लगे तो मनुष्य की बुद्धि ऐसी बिखर जाती है, जैसे चमडे के पात्र (परवाल) मे से जल बिखरने लगता है।

शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
एकैकमलमेतेषां विनाशप्रतिपत्तये ॥

(का० नी० १।४२)

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गध इन पाच विषयो मे से यदि एक विषय मे भी आसक्ति रखी जाय तो वही एक मनुष्य का विनाश करने के लिए काफी होती है। पाचो मे होने पर तो उसके विनाश मे शका ही नही है।

कुरङ्ग मातङ्ग पतङ्ग भृङ्ग-
मीना हताः पञ्चभिरेव पञ्च ।
एकः प्रमाथी स कथं न हन्यते
यः सेवते पञ्चभिरेव पञ्च ॥

(ग० सा० ६।३५)

हिरन, हाथी, पतिगा, भ्रमर और मछली ये पाचो प्राणी क्रम से ऊपर के श्लोक मे बताये शब्दादि पाच विषयो मे से एक-एक मे आसक्ति

रखने के कारण नष्ट हो जाते है। तब एक प्रमाथी (तृष्णातुर) लपट मनुष्य पाचों इन्द्रियो से जब पाच विषयो का सेवन करे तो वह क्यो नष्ट नही होगा ?

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम् ।
अपुण्य लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत् ॥

(म० स्मृ० २।५७)

बहुत भोजन करना स्वास्थ्य और आयुष्य नष्ट करता है। वह लोक-निंदित है, पाप है। इस कारण इसका त्याग करना चाहिए।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

(म० स्मृ० २।९४)

कामनाए (वासनाए) विशेष भोगने से शात नही होती, बल्कि अग्नि मे घी डालने से जैसे वह और भडकती है, उसी प्रकार विषयो का अधिक सेवन करने से वासना भी और अधिक बढती है।

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नो विविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वासमपि कर्षति ॥

(म० स्मृ० २।२१५)

मा, बहन, अथवा पुत्री के साथ भी मनुष्य एकात मे न रहे, क्योंकि इंद्रिय-समुदाय इतना बलवान है कि वह विद्वानो को भी खींच लेता है।

नहीदृशमनायुष्य लोके किञ्चन विद्यते ।
यादृशं पुरुषस्येह परदारोपसेवनम् ॥

(म० स्मृ० ४।१३४)

इस ससार मे परस्त्री-सग के समान आयुष्य को नष्ट करनेवाला और कोई दूसरा विनाशकारी काम नही है।

नैतद् ब्रह्म त्वरमाणेन लभ्यं
यन्मां पृच्छन्नतिहृष्यस्यतीव।
बुद्धौ विलीने मनसि प्रचिन्त्या
विद्या हि सा ब्रह्मचर्येण लभ्या॥
(म० भा० ५।४४।२)

यह ब्रह्म-ज्ञान जल्दबाज मनुष्य प्राप्त नही कर सकता। मन जब निश्चय-रूपी बुद्धि मे लीन हो जाता है तब सब वृत्तियो के निरोध वाली विद्या अर्थात् ब्रह्मज्ञान ब्रह्मचर्य के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।
(यो० सू०)

ब्रह्मचर्य की सिद्धि होने पर सामर्थ्य प्राप्त होती है।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।
श्रुति

ब्रह्मचर्य-रूपी तप के द्वारा देवताओ ने मृत्यु को जीत लिया है।

यदिदं ब्रह्मणो रूपं ब्रह्मचर्यमिति स्मृतम्।
परं तत्सर्वधर्मेभ्यस्तेन यान्ति परागतिम्॥
(म० भा० १२।२१८।७)

स्मृतियो मे कहा गया है कि ब्रह्म अर्थात् ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करने का उत्तम व्रत ब्रह्मचर्य है। वह सब धर्मो मे श्रेष्ठ है और मनुष्य उसका अवलबन करके परमगति प्राप्त करता है।

ब्रह्मचर्येण संयुक्तः सर्वान्कामानवाप्नुयात् ।
प्रजापतीनां या शक्तिः प्रजाः कर्तुं द्विजोत्तमाः ॥
सा ज्ञेया ब्रह्मचर्येण ऋषीणामपि च द्विजाः ।

यो ब्रह्मचर्ये न परिच्युतः स्यात्-
पुत्रेण हीनोऽपि दिवं प्रयाति ।
परिच्युता ये तनयैर्विहीना-
स्तेषां न लोकेषु गतिः प्रदिष्टा ॥
(वि० ध० ३।२५८।२,

ब्रह्मचर्य से युक्त मनुष्य की सब कामनाए पूर्ण हो जाती हैं । पतियो की प्रजा उत्पन्न करने की जो शक्ति है, वह ब्रह्मचर्य के व ही है । इस प्रकार ऋषियो की त्रिकाल-दर्शन आदि की जो शक्ति वह भी ब्रह्मचर्य के ही कारण है ।

जो मनुष्य ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट न हुआ हो वह पुत्र-रहित होने पर स्वर्ग जाता है, और जो ब्रह्मचर्य से भ्रष्ट हो गया और पुत्रों से भी र है, उसकी किसी भी लोक मे सद्गति नही होती ।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥
(भ० गी० १६।

काम, क्रोध और लोभ ये आत्मा का नाश करनेवाले नरक के त्रि द्वार हैं । इसलिए इन तीनों का मनुष्य को त्याग करना चाहिए ।

: १२ :

ज्ञान-योग

इज्याचारदमाहिंसा-दानस्वाध्यायकर्मणाम् ।
अयं हि परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥
(या० स्मृ० अ० ८)

यज्ञ, आचार, दम (इद्रिय-निग्रहादि नियम) अहिंसा दान, स्वाध्याय आदि इन सबमे यह धर्म (ज्ञान-योग) ही श्रेष्ठ है, क्योकि इसके द्वारा आत्मा का दर्शन होता है।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
(भ० गी० ४।३८)

इस ससार मे ज्ञान के समान दूसरा कोई पवित्र नही है।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ।
(भ० गी० ४।३७)

हे अर्जुन, ज्ञान-रूपी अग्नि कर्मो को भस्म कर देता है।

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परतप: ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते ॥
(भ० गी० ४।३३)

द्रव्य-यज्ञ की अपेक्षा ज्ञान-यज्ञ श्रेष्ठ है, क्योकि, हे पार्थ, कर्म-मात्र ज्ञान मे ही पराकाष्ठा को पहुचते है।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥
(भ० गी० ४।३६)

हे अर्जुन, क्षण-भर के लिए मान ले कि तू समस्त पापियों में सबसे बड़ा पापी है, फिर भी तू ज्ञान-रूपी नौका के द्वारा सब पापों को पार कर जायगा।

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टाऽनिष्टोपपत्तिषु॥

मयि चाऽनन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि॥

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥

(भ० गी० १३।७-११)

अमानित्व, अदम्भित्व, अहिंसा, क्षमा, सरलता, आचार्य की सेवा, शुद्धता, स्थिरता, आत्म-संयम, इन्द्रियों के विषयों में वैराग्य, अहंकार-रहितता, जन्म, मरण, जरा, व्याधि दुःख और दोषों का निरन्तर भान, पुत्र, स्त्री और गृहादि में मोह तथा ममता का अभाव प्रिय और अप्रिय में नित्य समभाव, मुझमें अनन्य ध्यानपूर्वक, एकनिष्ठ भक्ति, एकान्त स्थान का सेवन, जन-समूह में सम्मिलित होने की अरुचि, आध्यात्मिक ज्ञान की नित्यता का भान, और आत्मदर्शन, यह सब ज्ञान (ज्ञान-मार्ग) कहलाता है। इससे उल्टा जो है, वह अज्ञान उत्पन्न करता है।

कैवल्य सात्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिकं च यत् ।
प्राकृतं तामसं ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम् ।।
(श्री० भा० ११।२५।२४)

देह से भिन्न (केवल) आत्मा का ज्ञान सात्विक ज्ञान है, देहादि के अभेदवाला ज्ञान राजस ज्ञान है, प्राकृतिक बालकादि समान ज्ञान तामस ज्ञान और मेरे अन्दर निष्ठा, यह निर्गुण ज्ञान कहलाता है ।

भावाद्वैतं क्रियाद्वैतं द्रव्याद्वैतं तथात्मनः ।
वर्तयन्स्वानुभूत्येह त्रीन् स्वप्नान् धुनुते मुनिः ।।

कार्यकारणवस्त्वैक्यमर्शनं पटतन्तुवत् ।
अवस्तुत्वाद्विकल्पस्य भावाद्वैतं तदुच्यते ।।

यद्ब्रह्मणि परे साक्षात्सर्वकर्मसमर्पणम् ।
मनोवाक्तनुभिः पार्थ क्रियाद्वैतं तदुच्यते ।।

आत्मजायासुतादीनामन्येषां सर्वदेहिनाम् ।
यत्स्वार्थकामयोरैक्यं द्रव्याद्वैतं तदुच्यते ।।
(श्री० भा० ७।१५।६२-६५)

अद्वैत तीन प्रकार के है—भावाद्वैत, क्रियाद्वैत, और द्रव्याद्वैत । जो विचारशील पुरुष स्वानुभूति से इस त्रिविध अद्वैत का साक्षात्कार करते है वे जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और द्रष्टा, दर्शन तथा दृश्य के भेद-रूप स्वप्न को मिटा देते है ।

जैसे वस्त्र सूत्र रूप ही होता है, वैसे ही कार्य भी कारण मात्र ही है । इसी प्रकार सबकी अद्वैतता का विचार 'भावाद्वैत' है ।

मन, वाणी और शरीर से होनेवाले सब कर्म स्वयं परब्रह्म परमात्मा

मे ही हो रहे है, हे पार्थ, इस भाव से समस्त कर्मों को समर्पित कर देना 'क्रियाद्वैत' है।

स्त्री-पुत्रादि सगे-सम्बन्धी एव ससार के अन्य समस्त प्राणियो के तथा अपने स्वार्थ और भोग एक ही है। उनमे अपने और पराये का भेद नही है। इस प्रकार का विचार 'द्रव्याद्वैत' है।

साङ्गोपाङ्गानपि यदि यश्च वेदानधीयते।
वेदवेद्यं न जानीते वेदभारवहो हि स.॥
(म० भा० १२।१८।२५)

जो चारो वेदो का उनके अगो और उपागो के साथ अध्ययन तो करे, पर वेद द्वारा जानने योग्य ब्रह्म को न जाने तो उसे वेद का भार-वहन करनेवाला ही कहा जायगा, ज्ञाता नही।

: १३ :
यज्ञकर्म

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि सपश्यन् कर्तुमर्हसि॥
(भ० गी० ३।२०)

जनकादिक ने कर्म से ही परम सिद्धि प्राप्त की। लोक-सग्रह की दृष्टि से भी तुझे कर्म करना उचित है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
(भ० गी० ३।२१)

जो-जो आचरण उत्तम पुरुष करते है, उनका अनुकरण दूसरे लोग करते है। वे जिसे प्रमाण बनाते है, उसका लोग अनुकरण करते है।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥
(भ० गी० २।४७)

कर्म का ही तुझे अधिकार है, उससे उत्पन्न होनेवाले अनेक फलो का कदापि नही। तेरा हेतु कर्म का फल नही होना चाहिए और न ही कर्म न करने का भी तुझे आग्रह हो।

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥
(भ० गीता० १८।५-६)

यज्ञ, दान और तप विवेकी को पावन करनेवाले है। परतु, हे पार्थ, ये कर्म भी आसक्ति और फलेच्छा का त्याग करके ही करने चाहिए, ऐसा मेरा निश्चित उत्तम अभिप्राय है।

अवन्ध्यं दिवसं कुर्याद्दानाध्ययनकर्मभिः।
(चा० नी० २।१३)

परोपकार, विद्याध्ययन तथा नियत कर्मो से रहित एक भी दिन मत होने दो।

अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥

अभिसन्धाय तु फलं दंभार्थमपि चैव यत् ।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥

(भ० गी० १७।११-१३)

जिसमें फल की इच्छा नहीं है, जो विधिपूर्वक कर्तव्य समझकर, मन को उसमें पिरोकर होता है, वह यज्ञ सात्विक है ।

हे भरत-श्रेष्ठ ! जो किसी फल, उद्देश्य और दंभ से होता है, उस यज्ञ को राजसी समझो ।

जिसमें विधि नहीं है, अन्न की उत्पत्ति (विहित द्रव्य का उपयोग) नहीं है, मंत्र नहीं है, त्याग नहीं है, श्रद्धा नहीं है, उस यज्ञ को बुद्धिमान लोग तामस यज्ञ कहते हैं ।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥

(भ० गी० १७।१४-१६)

देव, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानी की पूजा, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा यह शारीरिक तप कहलाता है ।

दु ख न देनेवाला, सत्य, प्रिय, हितकर वचन तथा धर्म-ग्रथो का अभ्यास—यह वाचिक तप कहलाता है ।

मन की प्रसन्नता, सौम्यता, मौन, आत्म-सयम, भावना-शुद्धि—यह मानसिक तप कहलाता है ।

श्रद्धया परया तप्त तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्विक परिचक्षते ।।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ।।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ।।

(भ० गी० १७।१७-१९)

समभाव-युक्त सावधान पुरुप जव फलेच्छा का त्याग करके परम श्रद्धापूर्वक इन तीन प्रकार के तपो को करते है, तव उसे वुद्धिमान लोग सात्विक तप कहते है ।

जो सत्कार, मान और पूजा के लिए दभपूर्वक होता है, वह अस्थिर और अनिश्चित तप राजस कहलाता है ।

जो तप कष्ट उठाकर दुराग्रहपूर्वक अथवा दूसरे के नाश के लिए होता है, वह तामस तप कहलाता है ।

यज्ञोऽनृतेन क्षरति तपः क्षरति विस्मयात् ।
आयुर्विप्रापवादेन दानं च परिकीर्तनात् ।।

(म० स्मृ० ४।२३७)

असत्य से यज्ञ, गर्व से तप, ब्राह्मण (सत्पुरुष) की निंदा करने से

आयु, और दान देकर स्वयं अपनी प्रशंसा करने से उसका फल नष्ट होता है।

तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥
(श्री० भा० ११।२०।९)

(श्रीकृष्ण कहते हैं) जबतक संपूर्ण तीव्र वैराग्य उत्पन्न न हो, अथवा मेरी कथा-वार्ता के श्रवण-कीर्तन आदि में पूर्ण श्रद्धा न हो तब—तक शास्त्र-विहित वर्णाश्रम-धर्म के अनुसार बताये गए कर्मों का विधिवत् पालन करते रहना चाहिए।

: १४ :

भक्ति-योग

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥
(भ० गी० १८।६५)

मुझमें लगन लगा, मेरा भक्त बन, मेरे लिए यज्ञ कर, मुझे नमस्कार कर, तू मुझे ही प्राप्त करेगा, यह मेरी सत्य प्रतिज्ञा है। तू मुझे प्रिय है।

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥

ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।
प्रेम-मैत्री-कृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ॥

अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते ।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥
(श्री० भा० ११।२।४५-४७)

जो सब प्राणियो मे विद्यमान आत्मा के भगवद् भाव को देखता है, और भगवान मे ही उन सब प्राणियो को देखता है, वह उत्तम भक्त कहलाता है; जो भगवान से प्रेम, उनके भक्तो से मित्रता, अज्ञानियो पर कृपा और भगवान से द्वेष रखनेवालो के प्रति उपेक्षा करता है, वह मध्यम भक्त कहलाता है और जो भगवान की प्रतिमा को ही श्रद्धापूर्वक पूजता है, लेकिन भगवान के भक्तो तथा अन्य प्राणियो मे उचित भगवद्भाव नही रखता, वह प्राकृत भक्त कहलाता हे ।

यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् ।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ॥
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा ॥
(श्री० भा० ११।२०।३२-३३)

जो कुछ भी कर्म से, तप से, ज्ञान से, वैराग्य से, योग मे, दान-धर्म से, तथा अन्य श्रेय-साधनो से प्राप्त होता है, वह सब यदि इच्छा करे तो मेरा भक्त मेरी भक्ति द्वारा सुगमता से प्राप्त कर लेता है ।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥
(भ० गी० ७।१४)

इन मेरी तीन गुणोवाली दैवी माया का तरना कठिन है । पर जो मेरी ही शरण लेते है, वे इस माया को तर जाते हैं ।

न मां दुष्कृतिनो मूढ़ाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ।।
(भ० गी० ७।१५)

दुराचारी, मूढ, अधम मनुष्य मेरी शरण नही आते। वे आसुरी भाव-वाले होते है और माया द्वारा उनका ज्ञान हरा हुआ होता है।

देवोऽसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव वा ।
भजन्मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद्यथा वयम् ।।
(श्री० भा० ७।७।५०)

(प्रह्लाद ने कहा है कि) देव, दैत्य, मनुष्य, यक्ष, गन्धर्व जो कोई भी भगवान के चरण-कमल की सेवा करता है, वह कल्याण का भाजन होता है जैसे हम है।

नालं द्विजत्वं देवत्वंऋषित्वं वाऽसुरात्मजाः ।
प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता ।।

न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च ।
प्रीयतेऽमलया भक्तया हरिरन्यद्विडम्बनम् ।।
(श्री० भा० ७।७।५१-५२)

भगवान को प्रसन्न करने के लिए ब्राह्मण, देवता या ऋषि होना और विविध ज्ञानो से सम्पन्न होना चारित्र, तथा चाहिए दान, तप, यज्ञ या शारीरिक, मानसिक शौच और बड़े-बड़े व्रतों का अनुष्ठान ही काफी नही होता। भगवान तो केवल निष्काम भक्ति से ही प्रसन्न होते है। हे असुरात्मज ! इसके अलावा दूसरा आडम्बर मात्र होता है।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥
(भ० गी० ११।५३)

जो मेरे दर्शन तूने किये हैं, वह दर्शन न वेद से, न तप से, न दान से अथवा न यज्ञ से हो सकते हैं।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥
(भ० गी० ११।५४)

परन्तु, हे अर्जुन, हे परंतप! मेरे सम्बन्ध में ऐसा ज्ञान, मेरे ऐसे दर्शन और मुझमे वास्तविक प्रवेश केवल अनन्य भक्ति से ही सम्भव है।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
(श्री० भा० ७।५।२३)

इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥
(श्री० भा० ७।५।२४)

(प्रह्लाद अपने पिता से कहता है—) श्रवण, कीर्तन, स्मरण, चरण-सेवा, पूजन, प्रणाम, दासत्व, मित्र-भाव और सर्वस्व-समर्पण—इन नौ प्रकार से भगवान विष्णु की जो भक्ति की जाती है, उसे मैं उत्तम शिक्षण मानता हूं।

अभिसन्धाय यो हिंसां दम्भं मात्सर्यमेव वा।
संरम्भी भिन्नदृग्भाव मयि कुर्यात् स तामसः॥
(श्री भा० ३।२६।८)

जो भेददर्शी, क्रोधी पुरुष हृदय मे हिंसा, दभ अथवा ईर्ष्या का भाव रखकर मुझमे प्रेम करता है, वह मेरा तामस भक्त है।

विषयानभिसन्धाय यश ऐश्वर्यमेव वा।
अर्चादावर्चयेद्यो मां पृथग्भावः स राजसः॥
(श्री० भा० ३।२६।६)

जो पुरुष विषय, यश, और ऐश्वर्य की कामना से मेरी प्रतिमा आदि मे भेद-भाव से मेरा पूजन करता है, वह राजस भक्त है।

कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन्वा तदर्पणम्।
यजेद्यष्टव्यमिति वा पृथग्भावः स सात्विकः॥
(श्री० भा० ३।२६।१०)

जो व्यक्ति पापो का क्षय करने के लिए, परमात्मा को अर्पण करने के लिए और पूजन करना कर्तव्य है, यह समझकर भेदभाव से पूजन करता है, वह सात्विक भक्त है।

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसोऽम्बुधौ॥

लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥
(श्री० भा० ३।२६।११-१२)

जिस प्रकार गगा का प्रवाह अखण्ड रूप से समुद्र की ओर बहता रहता है, उसी प्रकार मेरे गुणो के श्रवण मात्र से मन की गति अविच्छिन्न रूप से मुझ सर्वान्तर्यामी के प्रति हो जाना तथा मुझ पुरुषोत्तम मे निष्काम और अखण्ड अनन्य प्रेम होना निर्गुण भक्ति-योग का लक्षण कहा गया है।

सालोक्य - सार्ष्टि - सामीप्य-सारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥

स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः ।
येनाऽतिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते ॥
(श्री० भा० ३।२९।१३-१४)

ऐसे (उपर्युक्त प्रकार के) निष्काम भक्तो को अगर सालोक्य (बैकुठ-वास) सार्ष्टि (भगवान के समान ऐश्वर्य-भोग), सामीप्य (भगवान की नित्य समीपता) सारूप्य (भगवान का-सा रूप) और सायुज्य (भगवान मे समा जाना) दिया जाय तो भी वे मेरी सेवा को छोडकर और कोई वस्तु नही लेते।

यह भक्तियोग ही परम पुरुषार्थ अथवा साध्य कहा गया है। इसके द्वारा भक्त, तीनो गुणो—सत्व, रज, तम को लाघकर मेरे भाव को प्राप्त हो जाता है, अर्थात् मेरे अप्राकृत स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

निषेवितेनाऽनिमित्तेन स्वधर्मेण महीयसा ।
क्रियायोगेन शस्तेन नातिहिंस्रेण नित्यशः ॥

मद्धिष्ण्यदर्शन - स्पर्श - पूजा - स्तुत्यभिवन्दनै. ।
भूतेषु मद्भावनया सत्त्वेनाऽसंगमेन च ॥

महतां बहुमानेन दीनानामनुकम्पया ।
मैत्र्या चैवात्मतुल्येषु यमेन नियमेन च ॥

आध्यात्मिकाऽनुश्रवणान्नामसंकीर्तनाच्च मे ।
आर्जवेनाऽऽर्यसंगेन निरहंक्रियया तथा ॥

मद्धर्माचरणैरेतैः परिशुद्धाशयः स्फुटम् ।
अञ्जसा पुरुषोऽभ्येति श्रुतमात्रगुणं हि माम् ॥
(श्री० भा० ३।२६।१५-१६)

निष्काम भाव से श्रद्धापूर्वक अपने नित्य-नैमित्तिक-स्मार्त कर्तव्यों का पालन करने, नित्य अनिहिंसा-रहित उत्तम श्रौत क्रिया-योग का अनुष्ठान करने, मेरी प्रतिमा का दर्शन, स्पर्श, पूजा, स्तुति और वंदना करने, प्राणियों में मेरी भावना करने, सात्विक भाव और वैराग्य के अवलंबन, महापुरुषों का मान, दीनों पर दया, और समान स्थितिवालों के प्रति मित्रता का व्यवहार करने, यम-नियमादि का पालन, अध्यात्म शास्त्रों का श्रवण और मेरे नामों का उच्च स्वर से कीर्तन करने में तथा मन की सरलता, सत्पुरुषों के संग और अहंकार के त्याग से मेरे ऐसे धर्मों (भागवत धर्मों) का अनुष्ठान करनेवाले भक्त पुरुष का चित्त अत्यन्त शुद्ध होकर मेरे गुणों के श्रवण मात्र से अनायास ही मुझमें लग जाता है।

श्रद्धाऽमृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम् ।
परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम ॥

आदरः परिचर्यायां सर्वांगैरभिवन्दनम् ।
मद्भक्तपूजाऽभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः ॥

मदर्थेष्वंगचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम् ।
मय्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनम् ॥

मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च।
इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद्व्रतं तपः ॥
एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम्।
मयि संजायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते ॥
(श्री० भा० ११।१६।२०-२४)

मेरी अमृतमयी कथाओ मे श्रद्धा रखना, निरतर मेरा नाम सकीर्तन करना, मेरी पूजा मे अत्यन्त तत्परता रखना, स्तुतियो द्वारा मेरा स्तवन करना, मेरी सेवा मे प्रेम रखना, सम्पूर्ण अगो से मुझे प्रणाम करना, मेरे भक्तो की विशेष रूप से पूजा करना, समस्त प्राणियो मे मुझको देखना, मेरे ही लिए सम्पूर्ण अगो की चेष्टा करना, वाणी द्वारा मेरे ही गुण गाना, मुझमे ही मन लगाना, सब कामनाओ को छोड देना, मेरे लिए धन-भोग और सुखो को त्याग देना तथा जो-कुछ यज्ञ, दान, हवन, जप, व्रत, और तप किया जाय उसे मेरे ही लिए करना—हे उद्धव, इन्ही धर्मो का पालन करते हुए आत्मसमर्पण करनेवाले लोगो के हृदय मे मेरी भक्ति का प्रादुर्भाव होता है, फिर भला उनको और किस पदार्थ की इच्छा रहती है ?

: १५ :

श्रेय-मार्ग

लब्ध्वा सुदुर्लभमिदं बहुसम्भवान्ते
मानुष्यमर्थदमनित्यमपीह धीरः।
तूर्णं यतेत न पतेदनुमृत्यु याव-
न्निःश्रेयसाय विषयः खलु सर्वतः स्यात ॥
(श्री० भा० ११।६।२६)

यह नर-देह नाशवान होने पर भी श्रेय का साधक होने के कारण दुर्लभ है और अनेक जन्मो के अन्त मे ही प्राप्त होता है। सांसारिक विषय-भोग तो और दूसरी योनियो मे भी प्राप्त होते रहते हैं, केवल आत्म-कल्याण-परमार्थ प्राप्त करने की बुद्धि मनुष्य-जन्म मे ही रहती है। अत. बुद्धिमान मनुष्य को नि श्रेयस यानी आत्म-कल्याण के लिए मृत्यु से पहले जल्दी-से-जल्दी प्रयत्न करना चाहिए।

कुटुम्बेषु न सज्जेत न प्रमाद्येत्कुटुम्ब्यपि ॥

(श्री० भा० ११।१७।५२)

गृहस्थ पुरुष कुटुम्ब मे आसक्ति न रखे और परमार्थ सिद्धि मे प्रमादी न बने।

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्त
उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु
भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥

(क० उ०)

श्रेय और प्रेय अलग-अलग है। वे दोनो एक होकर मनुष्य को बन्धन मे बाधते है। परन्तु उन दोनो मे से जो पुरुष श्रेय को ग्रहण करता है, उसका कल्याण होता है। परन्तु जो केवल प्रेय से ही चिपके रहते है, वे अपने वास्तविक अविनाशी अर्थ से च्युत हो जाते है।

पुत्रदाराप्तबन्धूनां संगमः पान्थसंगमः।
अनुदेह वियन्त्येते स्वप्नो निद्रानुगो यथा ॥

(श्री० भा० ११।१७।५३)

इत्थं परिमृशन्मुक्तो गृहेष्वतिथिवद् वसन् ।
न गृहैरनुबध्येत निर्ममो निरहङ्कृतः ।।
(श्री० भा० ११।१७।५४)

इस ससार मे पुत्र, स्त्री, उत्तम मित्र और वन्धु वान्धवो का समागम वैसा ही है जैसे यात्रा मे किसी स्थान पर अन्य यात्रियो से भेट हो जाती है । सबको अलग-अलग रास्ते जाना है । शरीर के छूटने पर इनका साथ भी उसी प्रकार छूट जाता है, जैसे नीद खुलने पर स्वप्न का ससार छूट जाता है ।

उपर्युक्त स्थिति का विचार करके गृहस्थ को चाहिए कि वह घर-गृहस्थी मे फसे नही । अनासक्त होकर अतिथि-भाव से रहे । जो ममत्व-रहित और निरहकारी होकर रहता है, उसे घर-गृहस्थी के फदे बाघ नही सकते ।

यावत्स्वस्थमिदं शरीरमरुजं यावज्जरा दूरतो,
यावच्चेन्द्रियशक्तिरप्रतिहता यावत्क्षयो नायुषः ।
आत्मश्रेयसि तावदेव विदुषा कार्यः प्रयत्नो महान्,
सन्दीप्ते भवने तु कूपखननं प्रत्युद्यमः कीदृशः ।।
(भर्तृ० वैरा० ८८)

जवतक शरीर स्वस्थ तथा रोग-रहित है, जवतक वृद्धावस्था दूर है, जवतक इन्द्रियो की शक्ति नष्ट नही हुई है और जवतक आयुष्य का नाश नही हुआ है, तवतक वुद्धिमान पुरुष को अपने कल्याण के लिए प्रवल कार्य करते रहना चाहिए, उसके वाद प्रयत्न व्यर्थ होगा । घर मे आग लगने पर कुआ खोदने के समान ही वह प्रयत्न होगा ।

नृदेहमाद्यं खलु धर्मसाधनं,
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् ।
मयाऽनुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान्भवाब्धि न तरेत्स आत्महा ।।

(श्री० भा० ११।२०।१७)

(श्रीकृष्ण उद्धव से कहते है) यह मनुष्य-देह सारे शुभ फलो की प्राप्ति का मूल है और अत्यन्त दुर्लभ होने पर भी अनायास ही सुलभ हो गया है। इस संसार-सागर से पार जाने के लिए यह एक सुदृढ नौका के समान है। गुरु ही इसके कर्णधार है। अनुकूल वायु के रूप मे मेरे ही द्वारा प्रेरित होकर यह नौका पार लग जाती है—ऐसे इस शरीर को पाकर भी जो मनुष्य संसार-सागर से पार नही होता, वह आत्मघाती ही है।

धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते ।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः ।।
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता ।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः ।।
वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ।।

(श्री० भा० १।२।९-११)

अपवर्ग (मोक्ष) साधक धर्म का प्रयोजन केवल अर्थ (धन) नहीं है, और न धर्म-साधक अर्थ का फल केवल काम (भोग) ही है। काम का फल भी जीवन-पर्यन्त इन्द्रिय-लालन ही नहीं है किंतु जीवन है और इस जीवन का लाभ तत्त्व-जिज्ञासा ही है। इस लोक मे यज्ञ आदि कर्मो के द्वारा प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि फल इसके वास्तविक प्रयोजन नहीं है।

तत्व-वेत्ता लोग अद्वैत ज्ञान को ही तत्व कहते है, जिसका कि ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् आदि शब्दो द्वारा वर्णन किया जाता है ।

वयमिह परितुष्टा बल्कलैस्त्व च लक्ष्म्या,
सम इह परितोषो निर्विशेषो विशेषः ।
स तु भवतु दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला,
मनसि तु परितुष्टे कोऽर्थवान्को दरिद्रः ॥
(भर्तृ० वैरा० ५०)

(तपस्वी पुरुष राजा से कहता है) हम वृक्षो की छाल पहनकर सन्तुष्ट है, आप लक्ष्मी से सतुष्ट हो । हमारा दोनो का सन्तोष समान है । उसमे कोई भेद नही है । अनुभव की वात यह है कि जिसकी तृष्णा विशाल है, वही दरिद्री है । मन मे सन्तोप होने पर कौन धनी है और कौन निर्धन ?

हर्षस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥
(भा० सावित्री)

मूर्ख मनुष्य के लिए रोज हजारो हर्ष के प्रसग आते है और सैकडो भय के । लेकिन वुद्धिमान मनुष्य के पास वे नही आते, क्योकि उसके लिए हर्ष, शोक, भय सव समान होते है ।

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।
सङ्गात् संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥
(भ० गी० २।६२-६३)

विषयो का चिन्तन करनेवाले पुरुष को उनमे आसक्ति उत्पन्न होती है, आसक्ति मे से कामना होती है और कामना मे से उसकी पूर्ति न होने पर क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध मे से मूढता उत्पन्न होती है, मूढता से स्मृति भ्रान्त हो जाती है, स्मृति भ्रान्त होने से ज्ञान का नाश हो जाता है, और जिनका ज्ञान नष्ट हो गया, वह मृतक तुल्य है।

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते॥
(म० स्मृ० ६।६०)

इन्द्रियो पर काबू रखने से, राग-द्वेषादि छोडने से तथा प्राणि-मात्र की हिंसा न करने से प्राणी को मोक्ष प्राप्त होती है।

असंकल्पाज्जयेत्काम क्रोधं कामविवर्जनात्।
अर्थानर्थेक्षया लोभं भयं तत्वावमर्शनात्॥
(श्री० भा० ७।१५।२२)

संकल्प का त्याग करके काम को, काम का त्याग करके क्रोध को, अर्थ के अन्दर अनर्थ की दृष्टि रखकर लोभ को और तत्व के विचार से भय को जीतना चाहिए।

आन्वीक्षिक्या शोकमोहौ दम्भं महदुपासया।
योगान्तरायान्मौनेन हिंसां कायाद्यनीहया॥
(श्री० भा० ७।१५।२३)

अध्यात्म विद्या के द्वारा शोक और मोह पर, सन्त पुरुषों की सेवा के द्वारा दम्भ पर, मौन के द्वारा योग में आनेवाले विघ्नो पर और शरीर

तथा मन की चेष्टाओ को सयमित करके हिंसा पर मनुष्य को विजय पानी चाहिए।

कृपया भूतजं दुःखं दैवं जह्यात्समाधिना ।
आत्मजं योगवीर्येण निद्रां सत्वनिषेवया ॥
(श्री० भा० ७।१५।२४)

आधिभौतिक दु ख को दया-भाव से, आधिदैविक वेदना को समाधि से, आध्यात्मिक दु ख को योगबल से तथा सत्व गुणो के निरन्तर सेवन से निद्रा को जीतना चाहिए।

रजस्तमश्च सत्वेन सत्वं चोपशमेन च ।
एतत्सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत् ॥
(श्री० भा० ७।१५।२५)

रजोगुण और तमोगुण पर सत्वगुण से तथा सत्वगुण पर शान्ति से विजय प्राप्त करनी चाहिए। पर इन सब दोषो पर गुरु-भक्ति द्वारा सहज ही विजय प्राप्त की जा सकती है।

निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु ।
तेष्वनिर्विण्णचित्ताना कर्मयोगस्तु कामिनाम् ॥
(श्री० भा० ११।२०।७)

जो लोग कर्मो तथा उनके फलो से विरक्त हो गये है और उनका त्याग कर चुके है, वे ज्ञान-योग के अधिकारी है। इसके विपरीत जिनके चित्त मे कर्मो और उनके फलो के प्रति विराग नही हुआ है, उनमे दु ख-बुद्धि नही हुई है, वे सकाम व्यक्ति कर्मयोग के अधिकारी है।

यदृच्छया मत्कथायां जातश्रद्धस्तु यः पुमान् ।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥
(श्री० भा० ११।२०।८)

जो पुरुष न तो अत्यन्त विरक्त है और न अत्यन्त आसक्त ही है, परन्तु स्वभावत मेरी कथा-वार्ता आदि मे उनकी श्रद्धा हो गई है और मुझमे भक्ति रखता है, वह भक्ति-योग का अधिकारी है। उसे भक्ति-योग के द्वारा ही सिद्धि प्राप्त होती है।

तस्माद्गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् ।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् ॥
(श्री० भा० ११।३।२१)

अत. श्रेय की इच्छावाले मनुष्य को, सब प्रकार से शान्ति का अवलम्बन करके रहनेवाले, शब्द-ब्रह्म वेदान्त-शास्त्र के ज्ञाता और पर-ब्रह्म का साक्षात् अनुभव करनेवाले गुरु की शरण मे जाना चाहिए।

ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित् ।
तेषां यत्स्ववचो युक्तं बुद्धिमांस्तत्समाचरेत् ॥
(श्री० भा० १०।३३।३२)

नैतत्समाचरेज्जातु मनसाऽपि ह्यनीश्वरः ।
विनश्यत्याचरन्मौढ्याद्यथाऽरुद्रोऽब्धिजं विषम् ॥
(श्री० भा० १०।३३।३१)

ईश्वर अर्थात् सामर्थ्यवान पुरुषों का वचन ही सम्पूर्ण सत्य होता है। उनका आचरण कहीं-कहीं ही अनुकरणीय होता है। इस कारण

बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि ऐसे लोगो के उन आचरणो का अनुकरण करे, जो उनके उपदेश के अनुकूल हो, क्योकि जो लोग समर्थ नही है, उन्हे मन से भी उनके उपदेश के विरुद्ध आचरण नही करना चाहिए। यदि कोई मूर्खतावश ऐसे आचरण करेगा, तो वह उसी प्रकार नष्ट हो जायगा जैसे समुद्र से उत्पन्न हुए विष को शकर ने पी लिया, यह देखकर उसका अनुकरण करनेवाला पुरुष नष्ट हो जाता है।

: १६ :

पुरुषार्थ

पञ्चैतानि महाबाहो ! कारणानि निबोध मे ।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ।।

अधिष्ठान तथा कर्ता करणञ्च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ।।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नर. ।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ।।

(श्री भ० गी० १८।१३।१५)

हे अर्जुन, कर्म मात्र की सिद्धि के विपय मे साख्य-शास्त्र मे जो पाच कारण कहे गए है, वे मुझे समझ।

वे पाच कारण ये है—क्षेत्र, कर्ता, भिन्न-भिन्न माधन, भिन्न-भिन्न क्रियाए और दैव।

शरीर, वाचा अथवा मन से जो कोई भी कर्म मनुष्य नीति सम्मत या नीति-विरुद्ध करता है, उसके ये पाच कारण होते है।

न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत् ।
यन्तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संविभजन्ति तम् ॥
(म० भा० ५।३५।४०)

ग्वाला जैसे हाथ मे लाठी लेकर पशुओ की रक्षा करता है, देवता इस प्रकार किसीकी रक्षा नही करते, बल्कि वे जिनकी रक्षा करना चाहते है, उन्हे सद्बुद्धि देकर उनकी सम्हाल करते है।

यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम् ।
बुद्धि तस्यापकर्षन्ति सोऽवाचीनानि पश्यति ॥
(म० भा० ५।३४।८१)

देवता जिस मनुष्य को दुःख देना चाहते है, उसकी बुद्धि पहले ही हर लेते है, जिससे वह अनुचित कार्यों की ओर ही अपनी दृष्टि रखता है।

यदा विनाशो भूतानां दृश्यते कालनोदितः ।
तदा कार्ये प्रमाद्यन्ति नराः कालवशं गताः ॥
(वा० रा० ३।५६।१६)

जब काल की प्रेरणा से प्राणियो का विनाश होने को होता है, तब काल के अधीन होकर मनुष्य अपने कर्तव्य-कर्म मे प्रमाद करने लगे जाते है।

तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायोऽपि तादृशः ।
सहायास्तादृशा एव यादृशी भवितव्यता ॥
(चा० नी० ६।६)

जिस मनुष्य की जो होनी होती है, उसी प्रकार की उसकी बुद्धि हो जाती है। उसे उद्यम भी उसी प्रकार का सूझता है और सहायक भी वैसे ही मिल जाते है।

सुहृदो ज्ञातयः पुत्रा भ्रातरः पितरावपि।
नानुस्मरन्ति स्वजनं यस्य दैवमदक्षिणम्॥
(श्री० भा० १०।८२।१६)

जिस मनुष्य का दैव प्रतिकूल होता है, वह जन अपना होने पर भी उसे उसके स्नेही-सवधी, पुत्र और माता-पिता भी भूल जाते है।

यथा ह्येकेन चक्रेण न रथस्य गतिर्भवेत्।
एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिद्धयति॥
(हितोपदेश)

जिस प्रकार एक पहिये से रथ चल नही सकता, उसी प्रकार विना पुरुपार्थ के अकेला दैव फल नही देता।

उद्यमः साहसं धैर्य बुद्धिः शक्तिः पराक्रमः।
षडेते यत्र वर्तन्ते तत्र दैवं सहायकृत्॥
(हितोपदेश)

जहा उद्यम, साहस, धीरज, बुद्धि, शक्ति, और पराक्रम ये छ होते है, वही भाग्य सहायता करता है।

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
र्दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति।

दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या,
यत्ने कृते यदि न सिद्धयति कोऽत्र दोषः ॥
(सु० र० भ० ८२।२०)

उद्योगी पुरुष-सिंहो को लक्ष्मी प्राप्त होती है। कापुरुष लोग ही कहते हैं कि वह भाग्य से प्राप्त होती है। अत केवल भाग्य का अवलम्बन छोडकर अपनी शक्ति के अनुसार पुरुषार्थ करो। प्रयत्न करने पर भी यदि सफलता न मिले तो उसमे फिर किसीका दोष नही।

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च ऋषिसत्तमाः।
भाजनं तु सदा ज्ञेयो नरस्तु व्यवसायवान् ॥
(वि० ध० ३८५।४)

पुरुषार्थी पुरुष ही धर्म, अर्थ काम तथा मोक्ष प्राप्त करने के योग्य होते हैं।

व्यवसायविहीनानामलसानां दुरात्मनाम्।
करप्राप्तोऽपि सहसा क्षिप्रमर्थो विनश्यति ॥
(वि० ध० ३।२८५।५, ६)

पुरुषार्थ-रहित, आलसी और दुष्ट अत करणवालो के हाथ मे आई सपत्ति तुरत नष्ट हो जाती है।

धीसत्त्वोद्योगयुक्तानां किं दुरापं महात्मनाम् ॥
छन्दानुवर्तिनां लोके कः परः प्रियवादिनाम्।
(का० नी० ५।५६)

बुद्धिवान, बलवान और उद्योगी महापुरुषो के लिए कौन-सी वस्तु दुर्लभ है ? और दूसरो की इच्छा के अनुसार बरतनेवाले तथा प्रिय बोलनेवालो का बडा शत्रु कौन होगा ?

अलसस्याल्पतोषस्य निर्विद्यस्याकृतात्मनः ।
प्रदानकाले भवति माताऽपि हि पराङ्मुखी ॥
(का० नी० ५।५७)

आलसी, थोडे मे सतोष माननेवाले, विद्याहीन तथा जिसने अपने मन को वश मे नही किया है, ऐसे मनुष्य को कुछ देते समय उसकी मा भी मुह फेर लेती है ।

नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः ।
आमृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैना मन्येत दुर्लभाम् ॥
(म० स्मृ० ४।१३७)

अगर अपने पास पुरुषार्थ करने योग्य साधन-सामग्री न हो तो निराशा से अपना तिरस्कार न करे । मृत्यु-पर्यंत श्रेय-सिद्ध के लिए प्रयत्न करते रहे । सिद्धि नही मिलेगी, यह मानकर हाथ-पर-हाथ धरे बैठे न रहे ।

उत्साहवन्त पुरुषा नावसीदन्ति कर्मसु ॥
(वा० रा० ४।१।१२३)

जो पुरुष उत्साहपूर्वक कर्म करनेवाले होते है, वे दुखी नही होते ।

उत्साहो बलवानार्य ! नास्त्युत्साहात्परं बलम् ।
सोत्साहस्य हि लोकेषु न किञ्चिदपि दुर्लभम् ॥
(वा० रा० ४।१।१२२, २३)

उत्साहपूर्वक कार्य करनेवाला मनुष्य ही बलवान है। उद्योग से अधिक समर्थ दूसरा कोई बल नहीं है। जो मनुष्य उद्यमी होता है, उसके लिए कोई वस्तु दुर्लभ नहीं होती।

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति ॥

(भर्तृ० नीति० २७)

निम्न कोटि के मनुष्य विघ्नों के भय से कोई काम शुरू ही नहीं करते। मध्य पुरुष विघ्नों के भय से उसे शुरू करने के बाद बंद कर देते हैं, और उत्तम कोटि के मनुष्य विघ्नों द्वारा बार-बार चोट पहुचाये जाने पर भी स्वीकृत कार्य को नहीं छोड़ते।

क्वचिद् भूमौ शैय्या क्वचिदपि च पर्यङ्कशयनम्
क्वचिच्छाकाहारी क्वचिदपि च शाल्योदनरुचिः।
क्वचित्कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो
मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दुःखं न च सुखम् ॥

(भर्तृ० नीति० ८२)

कभी जमीन पर सोना, तो कभी पलंग पर, कभी सागपात का भोजन तो कभी सुंदर मिष्ठान्न का भोजन, कभी चिथड़ों में लिपटे हों तो कभी सुंदर वस्त्र धारण किये हों, इस प्रकार अपना कार्य-साधन करने में तत्पर समझदार मनुष्य उसे प्राप्त करने में आये दुःख या सुख की तरफ ध्यान नहीं देते।

अस्मिंल्लोकेऽथवाऽमुष्मिन्मुनिभिस्तत्त्वदर्शिभिः।
दृष्टा योगाः प्रयुक्ताश्च पुंसां श्रेय.प्रसिद्धये ॥
तानातिष्ठति यः सम्यगुपायान्पूर्वदर्शितान् ।
अवरः श्रद्धयोपेत उपेयान्विन्दतेऽञ्जसा ॥
ताननादृत्य यो विद्वानार्थानारभते स्वयम् ।
तस्य व्यभिचरन्त्यर्था आरब्धाश्च पुनः पुनः ॥
(श्री० भा० ४।१८।३, ४, ५)

इस लोक अथवा परलोक के निमित्त मुनियो ने पुरुषो के कल्याण के लिए जो-जो उपाय समझे है और उनका प्रयोग किया है, उन पूर्व दृष्ट उपायो को जो मनुष्य श्रद्धायुक्त होकर अपने आचार मे लाता है, वह प्राप्य वस्तु को सरलता से प्राप्त कर लेता है और जो मनुष्य समझते हुए भी उन उपायो का अनादर करता है और स्वच्छदता से बिना सोचे-समझे बारबार कार्यारभ करता है, उसके प्रयत्न नही फलते ।

कः कालः कानि मित्राणि को देशः कौ व्ययागमौ ।
कश्चाहं का च मे शक्तिरिति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः ॥
(चा० नी ४।१८)

समय कैसा है, मित्र कैसे है, देश कैसा है, आय और व्यय का हाल क्या है, मैं कौन हू, मेरी शक्ति क्या है, मनुष्य को सदा इन बातो पर विचार करते रहना चाहिए ।

: १७ :

सत्पुरुष धर्म

हिमांशुमाली न तथा न चोत्फुल्लोत्पल सरः ।
आनन्दयति चेतांसि यथा सज्जनचेष्टितम् ॥
(का० नी ३।१५)

सज्जनो का चरित्र सबके चित्तो को जैसा आनंद प्रदान करता है, वैसा शीतल किरणोवाला चद्रमा या विकसित कमलोवाला सरोवर भी नही देता ।

प्रदानं प्रच्छन्नं गृहमुपगते सम्भ्रमविधि
प्रियं कृत्वा मौनं सदसि कथनं नाप्युपकृतेः ।
अनुत्सेको लक्ष्म्यां निरभिभवसाराः परकथाः
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥
(भर्तृ० नीति ६४)

दान को गुप्त रखना, घर आये का सत्कार करना, व दूसरे का भला करके चुप रहना, दूसरो के लिए किये गए उपकार को सबके सामने न कहना, धनी होकर गर्व न करना, पराई बात निंदा-रहित कहना—ये उत्तम गुण महान् पुरुषो के स्वभाव मे ही होते है ।

अनिन्दा परकृत्येषु स्वधर्मपरिपालनम् ।
कृपणेषु दयालुत्वं सर्वत्र मधुरा गिरः ॥
प्राणैरप्युपकारित्वं मित्रायाव्यभिचारिणे ।
गृहागते परिष्वङ्ग शक्त्या दानं सहिष्णुता ॥

बन्धुभिर्बन्धुसंयोगः स्वजने चरितानि च।
तच्चित्ताऽनुविधायित्वमितिवृत्तं महात्मनाम् ॥
(का० नी० ३।३४-३६)

दूसरे के कृत्यो की निंदा न करना, अपने शास्त्रोक्त धर्म का पालन करना, गरीबो पर दया रखना, सबके साथ मधुर वाणी से बोलना, कपट-रहित व अनन्य मित्र का अपने प्राण देकर भी उपकार करना, घरआये शत्रु से भी मिलना, शक्ति के अनुसार दान करना, सहनशीलता से वर-तना, बधुओ के साथ बधुओ जैसा प्रेम-भाव रखना, अन्य सबधियो के साथ भी स्नेह-भाव रखकर उनके काम करना, व उनके चित्त के अनुसार वरतना, ये सब महापुरुपो के लक्षण है।

प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे सयमः सत्यवाक्यं
काले शक्त्या प्रदान युवतिजनकथामूकभावः परेषाम्।
तृष्णास्त्रोतो-विभङ्गो गुरुषु च विनयः सर्वभूतानुकंपा
सामान्यः सर्वशास्त्रेष्वनुपहतविधिः श्रेयसामेष पन्थाः ॥
(भर्तृ० नीति० २६)

जीव-हिंसा न करना, पराया धन हरने से मन को रोकना, सत्य बोलना, समय पर सामर्थ्य के अनुसार दान देना, पराई स्त्रियो की चर्चा न करना और न सुनना, तृष्णा के प्रभाव (प्रवाह) को तोडना, गुरुजनो के प्रति नम्रता, सब प्राणियो के प्रति दया भाव—सामान्यत ये सब शास्त्रो के मत से मनुष्य के लिए कल्याण के मार्ग है।

मनस्येक वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्कर्मण्यन्यद्दुरात्मनाम् ॥
(हि० मि० लाभ १०१)

महात्मा पुरुषो के मन मे, वचन मे और कर्म मे एक ही बात होती है, जबकि दुरात्मा पुरुषो के मन मे, वचन मे, और कर्म मे अलग-अलग बातें होती है।

जाड्यं ह्रीमति गण्यते व्रतरुचौ दम्भः शुचौ कैतवं
शूरे निर्घृणता मुनौ विमतिता दैन्य प्रियालापिनि।
तेजस्विन्यवलिप्तता मुखरता वक्तर्यशक्तिः स्थिरे
तत्को नाम गुणो भवेत्स गुणिनां यो दुर्जनैर्नाङ्कितः॥
(भर्तृ० नीति० ५४)

लज्जावानो को मूर्ख, व्रत-उपवासवालो को ठग, पवित्रता मे रहनेवालो को धूर्त, शूरवीरो को निर्दय, चुप रहनेवालो को बुद्धिहीन, मधुर भाषियो को दीन, तेजस्वियो को अहकारी, वक्ताओ को बकवादी, और शात पुरुषो को असमर्थ कहकर दुष्टो ने गुणियो के कौन से गुण को कलकित नही किया ?

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं
भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधान्।
असंवृताङ्गान्निशिता इवेषवः॥
(भा० कि० १।३०)

जो लोग मायावी लोगो के साथ मायावी नही होते, ऐसे मूढ बुद्धिवाले मनुष्य पराभव को प्राप्त होते है, क्योकि तीक्ष्ण बाण जिस प्रकार खुले अगो के अंदर घुसकर मार करते है, उसी प्रकार दुर्जन ऐसे लोगो के अदर मिलकर उनका घात करते है।

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्यः
तस्मिंस्तथा वर्तितव्य स धर्मः ।

(म० भा० ५।३७।७)

जो मनुष्य जिसके साथ जैसी (भली या बुरी) तरह बरतता है, उसके साथ वैसी ही रीति से बरतना चाहिए, यह धर्म है।

कृते च प्रतिकर्तव्यमेष धर्मः सनातनः ।।

(वा० रा० ५।१।१०६)

जिसने अपने प्रति जैसा बरताव किया गया हो, उसके प्रति वैसा ही बरताव करना सनातन धर्म है।

आम्रं छित्त्वा कुठारेण निम्बं परिचरेत्तु कः ।
यश्चैनं पयसा सिञ्चेन्नैवास्या मधुरो भवेत् ।।

(वा० रा० २।३५।१४)

कुल्हाडी से आम के पेड को काटकर नीम को भला कौन सीचेगा ? भले ही कोई दूध से नीम को सीचे, वह मीठा नही होने का ।

दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययाऽलङ्कृतोऽपिसन् ।
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयंकरः ।।

(प० तं०)

विद्या से विभूषित होने पर भी दुर्जन मनुष्य का त्याग ही करना चाहिए । मणि से विभूषित होने पर भी साप क्या भयकर नही होता ?

: १६ :

वर्ण-धर्म

उप्यमानं मुहुः क्षेत्रं शनैर्निर्वीर्यतामियात ।
न कल्पते पुनः सूत्या उप्तं बीजं च नश्यति ।।
वृत्त्या स्वभावकृतया वर्तमानः स्वकर्मकृत् ।
हित्वा स्वभावजं कर्म शनैर्निर्गु णतामियात् ।।
(श्री भा० ७।११।३२-३३)

जिस प्रकार बार-बार बोये जाने से खेत सार-रहित हो जाता है, उसमे नया अकुर उत्पन्न करने की शक्ति नही रहती और उसमें बोया गया बीज भी नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार अपने स्वभाव के अनुसार प्राप्त जीविका तथा कर्म करता हुआ मनुष्य इन स्वाभाविक कर्मों को त्याग करके धीरे-धीरे गुणातीत हो जाता है ।

ब्राह्मणः समदृक् शान्तो दीनानां समुपेक्षकः ।
स्रवते ब्रह्म तस्यापि भिन्नभाण्डात्पयो यथा ।।
(श्री भा० ४।१४।४१)

ब्राह्मण यदि समदर्शी और शान्त स्वभाव का हो तो भी दीनजनों के प्रति उपेक्षा करने से उसका तप उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जैसे फूटे बर्तन मे रखा हुआ पानी बह जाता है ।

तपः श्रुतं च योनिश्च ब्राह्मण्ये कारणं परम् ।
तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः ।।
(म० भा० १३।१२१।७)

तपश्चर्या, वेदाध्ययन और ब्राह्मण-कुल मे जन्म—ये तीन ब्राह्मणत्व के कारण—लक्षण है। पर जो केवल ब्राह्मण-कुल मे उत्पन्न है, लेकिन तप और वेदाध्ययन से रहित है, वह मात्र 'जाति-ब्राह्मण' कहा जाता है।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥
(भ० गी० १८।४२)

शम, दम, तप, शौच, क्षमा, सरलता, ज्ञान, अनुभव, आस्तिकता—ये ब्राह्मण के स्वभावजन्य कर्म है।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥
(भ० गी० १८।४३)

शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्ध मे पीठ न दिखाना, दान, शासन—ये क्षत्रिय के स्वभावजन्य कर्म है।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥
(भ० गी० १८।४४)

खेती, गौरक्षा, व्यापार—ये वैश्य के स्वभावजन्य कर्म है और शूद्र का स्वभावजन्य कर्म सेवा है।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
(भ० गी० १८।४५)

स्वय अपने कर्म मे रत रहकर पुरुष मोक्ष पाता है।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥
(भ० गी० १८।४६)

जिसके द्वारा प्राणियों की प्रवृत्ति होती है और जिससे यह सारे-का-सारा व्याप्त है, उसे जो पुरुष स्वकर्म द्वारा भजता है, वह मोक्ष पाता है।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥
(भ० गी० १८।४७)

परधर्म सुकर होने पर भी उससे स्वधर्म विगुण भी हो तो अधिक अच्छा है। स्वभाव के अनुरूप कर्म करनेवाले मनुष्य को पाप नहीं लगता।

सहजं कर्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥
(भ० गी० १८।४८)

हे कौंतेय, स्वभावतः प्राप्त कर्म, सदोष होने पर भी छोड़ना नहीं चाहिए। जिस प्रकार अग्नि के साथ धुएं का संयोग है (चाहिए) उसी प्रकार सब कर्मों के साथ दोष मौजूद है।

वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः।
परधर्मेण जीवन् हि सद्यः पतति जातितः ॥
(म० स्मृ० १०।९७)

अपना गुण-रहित दिखनेवाला धर्म दूसरे के उत्तम आचरित धर्म से अच्छा है, क्योंकि पराये धर्म से जीता हुआ मनुष्य अपनी जाति में तत्काल ही पतित हो जाता है।

: २० :

गृहस्थ धर्म

यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यांति निश्चितम् ।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम् ॥
(म० स्मृ० ६।९०)

जैसे सारे नदी-नद समुद्र मे जाकर स्थिरता प्राप्त करते है, उसी प्रकार सब आश्रमवाले गृहस्थाश्रम के आश्रय मे जीते है ।

मानुष्यं वरवंशजन्म विभवो दीर्घायुरारोग्यता ।
सन्मित्रं सुसुतः सती प्रियतमा भक्तिश्च नारायणे ॥
विद्वत्वं सुजनत्वमिन्द्रियजयः सत्पात्रदाने रतिः ।
ते पुण्येन विना त्रयोदश गुणाः संसारिणां दुर्लभाः ॥
(सु० भा० ६३।५)

मनुष्य-देह, उत्तम वश मे जन्म, सपत्ति, लबी आयु, आरोग्य, अच्छे मित्र, उत्तम पुत्र, प्रिय एव सती पत्नी, भगवान मे भक्ति, विद्वत्ता, सौजन्य, इद्रियो पर अधिकार और सत्यपात्र को दान करने का प्रेम—ये तेरह गुण गृहस्थी मनुष्य को बिना पुण्य के मिलने कठिन है ।

सानंदं सदन सुतास्तु सुधियः कांता प्रियालापिनी ।
इच्छापूर्त्तिधनं स्वयोषिति रतिः स्वाज्ञापराः सेवकाः ॥
आतिथ्यं शिवपूजनं प्रतिदिन मिष्टान्नपानं गृहे ।
साधोः सङ्गमुपासते च सततं धन्यो गृहस्थाश्रमः ॥
(चा० नी० ७२।१)

आनन्ददायक घर, अच्छी बुद्धिवाले पुत्र, प्रिय बोलनेवाली तथा अच्छे स्वभाववाली पत्नी, इच्छानुसार धन, अपनी पत्नी मे ही प्रेम, आज्ञापालक सेवक, अतिथिसत्कार, प्रतिदिन शिव—इष्ट देव का पूजन, घर मे मधुर अन्न-जल का सेवन, नित्य सत्पुरुषो का सत्संग, ये बातें जहा मिलें, वह गृहस्थाश्रम धन्य है।

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थावनुचिन्तयेत्।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान्वेदतत्त्वार्थमेव च॥
(म० स्मृ० ४।९२)

मनुष्य को ब्राह्म मुहूर्त मे जगकर परमेश्वर का ध्यान करके वेद के तत्वार्थ और कायक्लेश तथा उसके कारण का चिंतन करते हुए धर्म और अर्थ का परस्पर विरोध न हो, इस प्रकार आचरण करना चाहिए।

स्नानं सन्ध्या जपो होमो देवतानां च पूजनम्।
आतिथ्यं वैश्वदेवश्च षट् कर्माणि दिने दिने॥
(पा० स्मृ० १।३९)

प्रतिदिन स्नान, संध्या, जप, होम, देवताओ का पूजन, अतिथि का सत्कार और वैश्वदेव ये नित्य के छः कर्म गृहस्थ को करने चाहिए।

अन्नं पितृमनुष्येभ्यो देयमप्यन्वहं जलम्।
स्वाध्यायं सततं कुर्यान्न पचेदन्नमात्मने॥
(या० आ० १०४)

नित्य वेदाभ्यास करना चाहिए। देव, मनुष्य और पितरों को नित्य श्राद्ध और तर्पण करना चाहिए। और भोजन केवल अपने ही लिए नहीं

पकाना चाहिए। देव को समर्पण करके अपने साथ साधु-संत के लिए भी भोजन मे हिस्सा रखना चाहिए।

अतिथिदेवो भव।

(शि० उ०)

अतिथि को देव-रूप समझो।

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥

(म० स्मृ० ३।१०१)

बैठने के लिए आसन, जगह, जल तथा मधुरी वाणी इन चीजो का सज्जनो के घर मे कभी अभाव नही होता।

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्तते।
पितरस्तस्य नश्यन्ति दश वर्षाणि पञ्च च॥

(पा० स्मृ० १।४५)

जिसके घर से अतिथि निराश होकर जाता है, उस घर के पितर अनेक वर्षों तक अन्न-जल ग्रहण नही करते।

अयं स्वस्त्ययनः पन्था द्विजातेर्गृहमधिनः।
यच्छ्रद्धयाप्तवित्तेन शुक्लेनेज्येत पूरुषः॥

(श्री० भा० १०।८४।३७)

जो सद्गृहस्थ शुद्ध साधनो से प्राप्त द्रव्य के द्वारा श्रद्धापूर्वक भगवान की पूजा करता है, उसका कल्याण ही होता है।

गृहस्थस्तु दयायुक्तो धर्ममेवाऽनुचिन्तयेत् ।
पोष्यवर्गार्थसिद्ध्यर्थं न्यायवर्ती स बुद्धिमान् ॥
(पा० स्मृ० १२।४२)

बुद्धिमान् गृहस्थ वह है, जो दयावान् होकर धर्म का चिंतन करता है और अपने आश्रितों का न्यायपूर्वक पालन करता है।

न्यायोपार्जितवित्तेन कर्तव्यं ह्यात्मरक्षणम् ।
अन्यायेन तु यो जीवेत्सर्वकर्मबहिष्कृतः ।
(पा० स्मृ० १२।४३)

अपना निर्वाह न्याय द्वारा उपर्जित धन से ही करना चाहिए। अन्याय द्वारा उपर्जित धन से जो आजीविका चलाता है, वह मनुष्य सब कर्मों से बहिष्कृत माना गया है।

अतिक्लेशेन ये ह्यर्था धर्मस्यातिक्रमेण च ।
शत्रूणां प्रणिपातेन ते त्वर्था मा भवन्तु मे ॥
(चा० नी० १६।११)

अति कष्टों से, धर्म का उल्लंघन करके, या शत्रु के सामने झुककर जो धन प्राप्त होना हो, वह मुझे नहीं चाहिए।

अन्यायोपार्जितं वित्तं दश वर्षाणि तिष्ठति ।
प्राप्ते चैकादशे वर्षे समूलं तद्विनश्यति ॥
(चा० नी० १५।६)

अधर्म द्वारा प्राप्त किया हुआ धन दस वर्ष तक टिकता है, परन्तु ग्यारहवां वर्ष प्राप्त होते ही वह समूल नष्ट हो जाता है।

विलश्यन्नपि हि मेधावी शुद्धं जीवनमाचरेत् ।
तेनेह श्लाघ्यतामेति लोकेभ्यश्च न हीयते ।।
(का० नी० ५।६)

बुद्धिमान् मनुष्य को कष्ट उठाकर भी शुद्ध जीवन बिताना चाहिए । इससे इस लोक मे तो उसकी प्रतिष्ठा होती ही है, परलोक मे भी वह सुखी रहता है ।

तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरे परे ।
तपसा किल्विषं हन्ति विद्ययामृतमश्नुते ।।
(म० स्मृ० १२।१०४)

तप और विद्या ये दो कर्म ब्राह्मण के लिए उत्तम और कल्याणकारी है । तप के द्वारा वह अपने दोषो का नाश करता है और विद्या के द्वारा वह मोक्ष को प्राप्त होता है ।

शस्त्रास्त्रभृत्वं क्षत्रस्य वणिक्पशुकृषिर्विशः ।
आजीवनार्थं धर्मस्तु दानमध्ययनं यजिः ।।
(म० स्मृ० १०।७६)

शस्त्रास्त्र धारण करना क्षत्रिय का धर्म है । व्यापार, पशु-पालन और खेती ये वैश्य की आजीविका के साधन है, परन्तु दान करना, वेद का अध्ययन करना तथा यज्ञ करना ये दोनो क्षत्रियो और वैश्यो के लिए धर्म हैं ।

सीदन्विप्रो वणिग्वृत्त्या पण्यैरेवापदं तरेत् ।
खड्गेन वाऽऽपदाक्रान्तो न श्ववृत्त्या कथंचन ।।
(श्री० भा० ११।१७।४७)

जीविका के संकट से पीड़ित ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य-वृत्ति धारण करके अपना गुजारा कर सकता है, परन्तु विपत्ति मे फंस जाने पर भी श्वान-वृत्ति से उसे अपना निर्वाह नही करना चाहिए ।

वैश्यवृत्त्या तु राजन्यो जीवेन्मृगययाऽऽपदि ।
शूद्रवृत्तिं भजेद्वैश्यः शूद्रः कारुकटक्रियाम् ।।
(श्री० भा० ११।१७।४८-४९)

आपत्तियों मे पड जाने पर क्षत्रिय व्यापार आदि वैश्य-वृत्ति से और अंत मे शिकार करके अपनी जीविका चलाये ।

अगर वैश्य संकट मे पड जाय तो वह शूद्र-वृत्ति से अपना गुजारा चलावे, और शूद्र अगर आपत्ति मे पडे तो कारीगरी के काम या मजूरी करके अपना काम चलावे ।

कृच्छ्रान्मुक्तो न गर्ह्येण वृत्तिं लिप्सेत कर्मणा ।।
(श्री० भा० ११।१७।४९)

आपत्ति मे पडने के कारण मनुष्य अपने स्वभाव तथा धर्म के विपरीत जो (निंदित) कार्य करता रहा हो, आपत्ति से मुक्त हो जाने पर वह उन्हे जारी न रखे ।

: २१ :

कुटुम्ब-धर्म

मातरं पितरं वृद्धं भार्यां साध्वीं सुतं शिशुम् ।
गुरुं विप्रं प्रपन्नं च कल्पोऽबिभ्रत् श्वसन् मृतः ।।
(श्री० भा० १०।४५।७)

जो पुरुष समर्थ होते हुए भी वृद्ध माता-पिता, पतिव्रता स्त्री, बाल सतान, गुरु, ब्राह्मण और शरणागतो का भरण-पोषण नही करता, वह जीता हुआ भी मरे हुए के समान है।

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा॥
(चा० नी० २।११)

जिसने अपने पुत्र को पढाया-लिखाया नही, वह माता शत्रु-रूप तथा पिता वैरी-रूप है, क्योकि मूर्ख पुत्र हसो के समुदाय मे बगुले के समान शोभा नही पाते।

लालयेत्पंच वर्षाणि दश वर्षाणि ताडयेत्।
प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत॥
(चा० नी० ३।१८)

पिता पाच वर्ष तक तो पुत्र का लालन-पालन करे, वाद मे दस वर्ष तक शिक्षा देते हुए ताडना करे। पर सोलहवा वर्ष प्रारम्भ हो जाने पर उसके साथ मित्र जैसा वर्ताव करे।

यदि कुलोन्नयने सरसं मनो
यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
यदि निजत्वमभीप्सितमेकदा
कुरु सुतां श्रुतशीलवती सदा॥
(सु० र० भा०)

यदि कुल की उन्नति मे मन लगता हो, या सुन्दर कलाओ मे अभि-रुचि उत्पन्न हो रही हो, यदि स्वत्व प्राप्त करने की इच्छा रहती हो, तो

अपनी पुत्री को सदा अच्छी तरह ज्ञानी (शिक्षित) और शीलवती बनाओ।

पितेव पालयेत्पुत्राञ्ज्येष्ठो भ्रातॄन्यवीयस ।
पुत्रवच्चापि वर्तेरञ्ज्येष्ठे भ्रातरि धर्मतः ॥
(म० स्मृ० ९।१०८)

बड़ा भाई छोटे भाइयों की पिता के समान सार-सम्हाल रखे और छोटे भाई भी बड़े भाई के साथ पुत्र के समान बरतें।

देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवाः ।
तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः ॥
(वा० रा० ६।१०२।१४)

सब कहीं पत्नी मिल सकती है, अन्य सम्बन्धी भी मिल सकते हैं, पर ऐसा देश मुझे दिखाई नहीं देता जहां सहोदर भाई मिल सकता हो।

शक्तः परजने दाता स्वजने दुःखजीविनि ।
मध्वापातो विषास्वादः स धर्मप्रतिरूपकः ॥
(म० स्मृ० ११।९)

दान देने में समर्थ मनुष्य स्वजनों के दुखी होने पर भी दूसरों को दान देता है, उसका दान पहले मीठा और बाद में विष के समान होता है।

आप्तद्वेषाद्भवेन्मृत्युः परद्वेषाद्धनक्षयः ।
राजद्वेषाद्भवेन्नाशो ब्रह्मद्वेषात्कुलक्षयः ॥
(चा० नी० १०।११)

अपने सम्बन्धियो का द्वेष करने से मृत्यु प्राप्त होती है, अन्यो के साथ द्वेष करने से धन का नाश होता है, राजा का द्वेष करने से स्वय का नाश होता है, और ब्राह्मण (सत्पुरुष) का द्वेष करने से कुल का नाश होता है।

धर्माय यशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च।
पञ्चधा विभजन्वित्तमिहामुत्र च मोदते ॥
(श्री० भा० ८।१६।३७)

धर्म, यश, अर्थ, काम और स्वजन इन पाचो के लिए धन का उपयोग करनेवाला मनुष्य इस लोक तथा परलोक मे आनन्द पाता है।

: २२ :

दम्पति-धर्म

आत्मा हि दाराः सर्वेषां दारसंग्रहवर्तिनाम्।
(वा० रा० २।३७।२४)

विवाह करनेवाले मनुष्य के लिए स्त्री ही उसकी आत्मा है।

अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा।
दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह ॥
(म० स्मृ० ६।२८)

सतानोत्पत्ति, धर्म-कार्य, सेवा, उत्तम स्नेह, अपनी तथा पितरो की स्वर्ग-प्राप्ति, ये सब केवल पत्नी के अधीन है, अर्थात् धर्मपत्नी होने पर ही इन सबकी प्राप्ति सम्भव है।

प्रजनार्थं महाभागा पूजार्हा गृहदीप्तयः ।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥
(म० स्मृ० ९।२६)

उत्तम संतान को जन्म देने के कारण भाग्यशाली और घर की कांतिरूप स्त्री आदर के योग्य है। स्त्री और श्री इन दो मे विशेष अंतर नही है।

सर्वाश्रमानुपादाय स्वाश्रमेण कलत्रवान् ।
व्यसनार्णवमत्येति जलयानैर्यथाऽर्णवम् ॥
यामाहुरात्मनो ह्यर्धं श्रेयस्कामस्य मानिनि ।
यस्यां स्वधुरमध्यस्य पुमांश्चरति विज्वरः ॥
यामाश्रित्येन्द्रियारातीन्दुर्जयानितराश्रमैः ।
वयं जयेम हेलाभिर्दस्यून्दुर्गपतिर्यथा ॥
न वयं प्रभवस्तां त्वामनुकर्तुं गृहेश्वरि ! ।
अप्यायुषा वा कार्त्स्न्येन ये चान्ये गुणगृध्नवः ॥
(श्री० भा० ३।१४।१७-२०)

जिस प्रकार जहाज पर चढकर मनुष्य समुद्र को पार कर लेता है, उसी प्रकार गृहस्थाश्रमी पुरुष अन्य आश्रमो को आश्रय देता हुआ अपने आश्रम द्वारा स्वयं भी दु:खरूपी समुद्र को पार कर जाता है।

हे मानिनी, जिसे अर्थ, धर्म और काम-रूप त्रिविध पुरुषार्थ की इच्छावाले पुरुष के अंग का आधा भाग कहा है, जिसपर अपनी गृहस्थी का बोझ डालकर पुरुष निश्चिंत होकर विचरता है तथा दुर्गपति (किले का स्वामी) जैसे लूटनेवाले शत्रुओं को जीत लेता है, उसी प्रकार जिसका आश्रय लेकर हम अपने इन्द्रिय-रूपी शत्रुओं को, जो अन्य आश्रम

वाली के लिए अत्यन्त दुर्गम है, सहज ही मे जीत लेते है, हे गृहेश्वरि, उस तुम जैसी भार्या का प्रत्युपकार हम अथवा और भी गुणग्राही पुरुष अपनी सम्पूर्ण आयु मे भी नही कर सकते ।

यदि न स्याद् गृहे माता पत्नी वा पतिदेवता ।
व्यङ्गे रथ इव प्राज्ञः को नामासीत दीनवत् ॥
(श्री० भा० ४।२६।१५)

यदि घर मे माता अथवा पति-परायणा भार्या न हो तो वह घर विना पहिये के रथ के समान हो जाता है। उस घर मे कौन बुद्धिमान दीन बनकर रहना पसन्द करेगा ?

स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानमेव च ।
स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जायां रक्षन् हि रक्षति ॥
(म० स्मृ० ६।७)

जो पुरुष अपनी स्त्री की प्रयत्न से रक्षा करता है, वह अपनी सन्तान, चरित्र, कुल, आत्मा और अपने धर्म की ही रक्षा करता है।

अरक्षिता गृहे रुद्धाः पुरुषैराप्तकारिभिः ।
आत्मानमात्मना यास्तु रक्षेयुस्ताः सुरक्षिताः ॥
(म० स्मृ० ६।१२)

घर के अन्दर वद रखकर स्वजन लोग स्त्री की रक्षा नही कर सकते। परन्तु जो स्त्रिया स्वय अपनी रक्षा कर सकती है, वे ही सुरक्षित रह सकती है।

न कश्चित् योषितः शक्तः प्रसह्य परिरक्षितुम् ।
(म० स्मृ० ९।१०)

कोई भी मनुष्य बल से स्त्रियों की रक्षा नहीं कर सकता ।

स्वदारनिरतश्चैव स्त्रियो रक्ष्या यतः स्मृताः ।
(या० स्मृ० १।८१)

अपनी पत्नी से ही प्रेम-संबंध रखने से स्त्रियों की रक्षा हो सकती है, यह ऋषियों का कथन है ।

अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत् ।
शौचे धर्मेऽन्नपक्त्यां च पारिणाह्यस्य चेक्षणे ॥
(म० स्मृ० ९।११)

धन-संग्रह, घर-संबंधी खर्च, शरीर आदि की शुद्धि, धर्म-कार्य, रसोई बनाना तथा घर की व्यवस्था की देख-भाल, आदि सारे कार्य स्त्रियों से ही कराने चाहिए ।

अन्योन्यस्याव्यभिचारो भवेदामरणान्तिकः ।
एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्रीपुंसयोः परः ॥
(म० स्मृ० ९।१०१)

स्त्री-पुरुष को आपस में यह धर्म जानना चाहिए कि जीवन-पर्यंत धर्म, अर्थ, काम आदि में पृथक् न हों ।

संतुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥
(म० स्मृ० ३।६०)

जिस कुल मे पत्नी से पति और पति से पत्नी प्रसन्न रहती है, उस कुल मे सदा कल्याण निवास करता है ।

याद्दग्गुणेन भर्त्रा स्त्री संयुज्येत यथाविधि ।
ताद्दग्गुणा सा भवति समुद्रेणेव निम्नगाः ।।
(म० स्मृ० ९।२२)

जिस प्रकार के गुणवाले पति से स्त्री का विवाह किया जाता है, स्त्री उसी प्रकार के गुणो से युक्त हो जाती है, जैसे नदिया समुद्र मे मिलकर समुद्र के जल की तरह ही खारी हो जाती है ।

यत्र नार्यस्तु पूज्यंते रमंते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ।।
(म० स्मृ० ३।५६)

जहा स्त्रियो का आदर किया जाता है, वहापर देवता रमण करते—प्रसन्न रहते है और जहापर इनका अनादर होता है, वहा सब काम विफल होते हैं ।

सा भार्या या प्रियं ब्रूते स पुत्रो यत्र निर्वृतिः ।
तन्मित्रं यत्र विश्वासः स देशो यत्र जीव्यते ।।
(म० भा० १२।१३९।९६)

अच्छी पत्नी वही है जो प्रिय बोलती हो, सत् पुत्र वही है जिसमे सब प्रकार से सतोष होता हो, सत् मित्र वही है जो विश्वासपात्र हो और सुन्दर देश वही है जहा जीवन निर्वाह होता हो ।

: २३ :

राजधर्म

नराणां च नराधिपम् ॥

(भ० गी० १०।२७)

(जड-चेतन प्रकृति मे ईश्वरीय अंश की अधिकता के रूप मे यत्र-तत्र विद्यमान अपनी सत्ता को बताते हुए श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते है—)

मनुष्यो मे मैं विशेष रूप से राजा (राष्ट्रपति) हू।

मनोवाग्वृत्तिभिः सौम्यैर्गुणैः संरञ्जयन्प्रजाः।
राजेत्यधान्नामधेयं सोमराज इवापरः॥

(श्री० भा० ४।२२।५६)

उदार मन, प्रिय और हितकर वचन, तथा सौम्य गुणो के द्वारा प्रजा का रंजन करते रहने से दूसरे चन्द्रमा के समान उनका (महाराज पृथु का) राजा नाम सार्थक हुआ।

राजा चेन्न भवेल्लोके पृथिव्यां दण्डधारकः।
जले मत्स्यानिवाऽभक्ष्यन्दुर्बलं बलवत्तराः॥

(म० भा० शां० ६७।१६)

दुनिया मे अगर दुष्टो को दंड देनेवाला राजा न हो, तो बलवान व्यक्ति दुर्बलो का वैसे ही भक्षण करते रहेंगे, जैसेकि जल मे बडी मछलिया छोटी मछलियो का भक्षण कर लेती है।

यथा राजन्हस्तिपदे पदानि ।
संलीयन्ते सर्वसत्वोद्भवानि ॥
एवं धर्मान्राजधर्मेषु सर्वान् ।
सर्वावस्थं संप्रलीनान्निबोध ॥
(म० भा० शां० ६३।२५)

जिस प्रकार हाथी के पैर मे सब प्राणियो के पैर समा जाते है, उसी प्रकार राजधर्म के अदर सब धर्म समा जाते है, अर्थात् राजधर्म सब धर्मों का आधारभूत धर्म है ।

कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम् ।
इति ते संशयो मा भूत् राजा कालस्य कारणम् ॥
(म० भा० शा० ६९।७९)

काल (सामयिक परिस्थितिया) राज का कारण (बनानेवाला) है, या राजा काल का कारण है? इस विषय मे तू सदेह मे मत पड । राजा ही काल का कारण होता है ।

कृतं त्रेता युगं चैव द्वापरं कलिरेव च ।
राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते ॥
(म० स्मृ० ९।३०१)

सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि ये सब युग राजा के ही आचरणो पर आधारित युगविशेष है, क्योकि राजा ही युग कहा जाता है ।

दण्डनीत्यां यदा राजा सम्यक्कात्स्न्येंन वर्तते ।
तदा कृतयुगं नाम कालसृष्टं प्रवर्तते ॥
(म० भा० शां० ६९।८०)

राजा जब पूर्ण रूप से दंडनीति—राजधर्म मे प्रवृत्त होता है, तब जानो कि काल द्वारा निर्मित सतयुग का प्रचलन हो रहा है।

दण्डनीत्यां यदा राजा त्रीनंशाननुवर्तते।
चतुर्थमंशमुत्सृज्य तदा त्रेता प्रवर्तते॥
(म० भा० शा० ६९।८७)

जब राजा राजधर्म का चौथा भाग छोडकर तीन भागो मे उसका अनुसरण करता है तब जानो कि त्रेता युग का प्रचलन हो रहा है।

अर्धं त्यक्त्वा यदा राजा नीत्यर्धमनुवर्तते।
ततस्तु द्वापरं नाम स कालः संप्रवर्तते॥
(म० भा० शां० ६९।८९)

जब राजा नीति का आधा भाग छोडकर आधे भाग का ही अनुसरण करता है, तब द्वापर-युग का प्रचलन समझो।

दण्डनीतिं परित्यज्य यदा कार्त्स्न्येन भूमिपः।
प्रजाः क्लिश्नात्ययोगेन प्रवर्तेत तदा कलिः॥
(म० भा० शा० ६९।९१)

राजा जब दंडनीति—स्वधर्म—का सर्वथा त्याग कर स्वेच्छा से प्रजा को क्लेश पहुँचाता है, तब कलियुग का प्रारम्भ हो जाता है।

कलिः प्रसुप्तो भवति स जाग्रद् द्वापरं युगम्।
कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम्॥
(म० स्मृ० ९।३०२)

उद्यम-रहित राजा कलियुग होता है, जानकर भी कार्य न करने-वाला राजा द्वापर, राज्य-कार्य मे उद्योगी त्रेता, और सब कार्यों को करता हुआ स्वच्छन्द विचरता है, वह सतयुग होता है।

सत्वं रजस्तम इति दृश्यन्ते पुरुषे गुणाः।
कलसंचोदिता ते वै परिवर्तन्त आत्मनि ॥

सभी प्राणियो मे तीन गुण होते है—सत्व, रज और तम। काल की प्रेरणा से समय-समय पर प्राणियो की आत्मा मे उनका ह्रास और विकास हुआ करता है।

प्रभवन्ति यदा सत्वे मनोबुद्धीन्द्रियाणि च।
तदा कृतयुगं विद्यात् ज्ञाने तपसि यद्रुचिः ॥

जिस समय मन, बुद्धि और इन्द्रिया सत्व गुण मे स्थित होकर अपना-अपना काम करने लगती है, उस समय सत्य युग समझना चाहिए। सत्व गुण की प्रधानता के समय मनुष्य ज्ञान और तपस्या से अधिक प्रेम करने लगता है।

यदा धर्मार्थकामेषु भक्तिर्भवति देहिनाम्।
तदा त्रेता रजोवृत्तिरिति जानीहि बुद्धिमन् ॥

जिस समय मनुष्यो की प्रवृत्ति धर्म, अर्थ और लौकिक सुखोपभोग की ओर होती है उम समय रजोगुण-प्रधान त्रेता-युग समझना चाहिए।

यदा लोभस्त्वसंतोषो मानो दम्भोऽथमत्सरः।
कर्मणां चापि काम्यानां द्वापरं तद्रजस्तमः ॥

जिस समय लोभ, असन्तोष, अभिमान, दम्भ और मत्सर का बोलबाला हो और मनुष्य बड़े उत्साह तथा रुचि के साथ सकाम कर्मों में लगना चाहे तब द्वापर-युग समझना चाहिए। द्वापर-युग में रजोगुण तथा तमोगुण की प्रधानता रहती है।

यदा मायाऽनृतं तन्द्रा निद्रा हिंसा विषादनम्।
शोको मोहो भयं दैन्य स कलिस्तामसः स्मृतः॥
(श्री० भा० १२,३,२६-३०)

जब कपट, झूठ, तन्द्रा, निद्रा, हिंसा, विषाद, शोक, मोह, भय और दीनता की प्रधानता हो, उसे तमोगुण-प्रधान कलियुग समझना चाहिए।

त्यागः सत्यं च शौर्यं च त्रय एते महागुणाः।
प्राप्नोति हि गुणान् सर्वानेतैर्युक्तो नराधिपः॥
(का० नी० ४।२३)

त्याग, सत्य और शौर्य ये तीन महागुण कहे जाते हैं। इन तीन गुणों से युक्त राजा (राष्ट्रपति) सब गुणों को प्राप्त करता है।

मौलान् शास्त्रविदः शूरान् लब्धलक्षान्कुलोद्भवान्।
सचिवान्सप्त वाऽष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान्॥
(म० स्मृ० ७।५४)

वंश-परम्परागत, शास्त्रों के जाननेवाले, शूर, शस्त्र विद्या में निपुण, कुलीन सात या आठ मन्त्रियों को सम्यक् परीक्षा लेकर नियुक्त करें।

अन्यानपि प्रकुर्वीत शुचीन्प्राज्ञानवस्थितान् ।
सम्यगर्थसमाहर्तॄनमात्यान्सुपरोक्षितान् ॥
(म० स्मृ० ७।६०)

पवित्र, बुद्धिमान, स्वस्थ चित्त तथा कार्यो को उत्तम रीति से सम्पन्न करनेवाले अन्य मन्त्रियो को भी राजा परीक्षा लेकर यथोचित सख्या मे नियुक्त करे।

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥
(म० स्मृ० १२।११३)

वेद को जाननेवाला एक ब्राह्मण भी धर्म का जो रूप निश्चित करे वही परम धर्म जानना। लेकिन दस हजार मूर्ख जिसको धर्म कहे, उसे धर्म मत समझना।

अव्रतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीवनाम् ।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते ॥
(म० स्मृ० १२।११४)

व्रतो का पालन न करनेवाले, वेद-मन्त्रो का ज्ञान न रखनेवाले, केवल जन्म के कारण ही अपनेको ब्राह्मण समझनेवाले हजारो की सख्या मे इकट्ठे हो जाय तो भी वह सभा नही हो सकती। महत्व सख्या का नही गुण का है।

नैकमिच्छेद्गण हित्वा स्याच्चेदन्यतरग्रहः ।
यस्त्वेको बहुभिः श्रेयान्काम तेन गण त्यजेत् ॥
(म० भा० शां० ८३।१२)

सामान्यतः किसी भी विषय का निर्णय करते हुए मतभेद हो जाने पर गण (बहुतों) के मत को छोडकर एक का मत ग्रहण न करें, परन्तु गण की अपेक्षा एक व्यक्ति-विशेष गुणवान हो तो गण के मत का त्याग करना उचित है।

धर्मादर्थोऽर्थतः कामः कामात् सुखफलोदयः।
आत्मानं हन्ति तान्हत्वा युक्त्या यो न निषेवते ॥
(का० नी० १।५१)

धर्म से अर्थ, अर्थ से काम, काम से सुख-रूपी फल का उदय होता है। जो मनुष्य इनका युक्तिपूर्वक सेवन नही करता, वह पुरुषार्थ का नाश करके स्वय अपने नाश का कारण बनता है।

कामः क्रोधस्तथा लोभो हर्षो मानो मदस्तथा।
षड्वर्गमुत्सृजेदेनमस्मिंस्त्यक्ते सुखी नृपः ॥
(का० नी० १।५७)

काम क्रोध, लोभ, हर्ष, मान तथा मद शत्रु-रूपी इस षड्वर्ग (समुदाय) को छोड दे। इनके त्याग से राजा सुखी होता है।

कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः।
वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव हि ॥
(म० स्मृ० ७।४६)

काम से उत्पन्न व्यसनों में आसक्त राजा निश्चय ही धर्म-अर्थ से रहित हो जाता है। क्रोध से उत्पन्न व्यसनों में आसक्त राजा तो अपने शरीर से ही वियुक्त हो जाता है, अर्थात्, वह स्वय ही नष्ट हो जाता है।

पानमक्षाः स्त्रियश्चैव मृगया च यथाक्रमम् ।
एतत् कष्टतमं विद्याच्चतुष्कं कामजे गणे ॥
(म० स्मृ० ७।५०)

मद्यपान करना, जुआ खेलना, स्त्री-सग तथा शिकार ये चार कामज व्यसन हैं । यह क्रमानुसार उत्तरोत्तर विशेष कष्टदायक होते है ।

पत्नीयत्यपि मातरं मदवशात्पत्नीं च मात्रीयति
श्वभ्रीयत्यपि मन्दिरं दृढशिलं कूपं च गेहीयति ।
स्वल्पं वार्युदधीयतीश्वरमपा मोहात्स्थलीयत्यपि
मित्रीयत्यपि विद्विषं किमपरं कुर्यान्न यन्मद्यपः ॥
(नी० म० व० मि०)

मद्यपान करनेवाला मदहोश होकर माता को पत्नी और पत्नी को माता मानने लगता है, मकान को गड्ढा और कुए को मकान समझता है, पानी के गड्ढे को समुद्र और समुद्र को जमीन समझता है और मित्र को शत्रु मान लेता है । अर्थात् ऐसे कौन बुरे-से-बुरे काम है कि मद्यपान करनेवाला मनुष्य जिनमे प्रवृत्त नही होता ।

लोभो धर्मक्रियालोप कर्मणामप्रवर्तनम् ।
सत्समागमविच्छित्तिरसद्भिः सह वर्तनम् ॥
द्यूतादनर्थसंरम्भो द्यूतात्स्नेहक्षयो महान् ।
पक्षाणां संहतानां च द्यूताद्भेदः प्रवर्तते ॥
(का० नी० १५।४५, ५४)

जुआ खेलने से लोभ, धर्म-क्रिया का लोप, आवश्यक कार्य का अवरोध, सज्जनो के समागम का अभाव और दुर्जनो के साथ सहवास प्राप्त होता है ।

जुए से अनेक अनर्थ उत्पन्न होते है। स्नेह का बडा क्षय होता है और साथ देनेवालो मे भेद उत्पन्न होता है।

दण्डस्य पातनं चैव वाक्पारुष्यार्थदूषणे।
क्रोधजेऽपि गणे विद्यात्कष्टमेतत्त्रिकं सदा॥
(म० स्मृ० ७।५१)

अनुचित दड, कठोर वाणी, प्रजा के धन का अपहरण—ये तीनो क्रोधज व्यसन के परिणाम हैं।

अदण्ड्यान्दण्डयन्राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति॥
(म० स्मृ० ८।१२८)

जो राजा दड देने-योग्य को दंड न दे और दड न देने-योग्य को दड दे, वह महान अपयश को प्राप्त करता है तथा नरक को जाता है।

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य न्याय्यं भवति शासनम्॥
(म० भा० शां० ५७।७)

गुरु भी अगर मत्त होकर कर्तव्याकर्तव्य को भूल जाय और उल्टे मार्ग की ओर प्रवृत्त हो जाय तो उसपर भी शासन करना न्याय है।

प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्॥
(कौ० १ आध० १९ अ० १६ प्र०)

प्रजा के सुख मे राजा का सुख है, और प्रजा के हित मे राजा का हित है, केवल राजा का स्वत का ही जो प्रिय हो, वह उसके लिए हितकर नही, परन्तु जो प्रजा को प्रिय हो वह राजा के लिए हितकर है ।

राजा प्रजाना प्रथमं शरीरं
प्रजाश्च राज्ञोऽप्रतिमं शरीरम् ।
राज्ञा विहीना न भवन्ति देशा
देशैर्विहीना न नृपा भवन्ति ॥
(म० भा० शां० ६८)

राजा प्रजा का प्रथम शरीर है और प्रजा राजा का अप्रतिम शरीर है । बिना राजा के देश नही रह सकते और देश (प्रजा) भी बिना राजा के नही रह सकते ।

विद्याविनीतो राजा हि प्रजानां विनये रत. ।
अनन्या पृथिवीं भुड्क्ते सर्वभूतहिते रतः ॥
(कौ० १।२।५)

विद्या से विनीत एव प्रजा को विद्यानीति की शिक्षा देनेवाला और सब प्राणियो के हित मे परायण राजा निष्कटक पृथ्वी का भोग करता है ।

अधर्मः सुमहान्नाथ ! भवेत्तस्य तु भूपतेः ।
यो हरेद्बलिषड्भागं न च रक्षति पुत्रवत् ॥
(वा० रा० ३।६।११)

जो राजा प्रजा से कर के रूप मे उपज का छठा भाग तो लेता है, पर पुत्र के समान उसका पालन नही करता, वह राजा महान् अधर्म का भागी होता है ।

य उद्धरेत्करं राजा प्रजा धर्मेष्वशिक्षयन् ।
प्रजानां शमलं भुङ्क्ते भगं च स्वं जहाति सः ॥
(श्री० भा० ४।२१।२४)

जो राजा अपनी प्रजा को धर्म की शिक्षा न देकर उनसे केवल कर ही वसूल करता है, उस राजा को प्रजा के अधर्म से उत्पन्न हुआ पाप भोगना पडता है और परिणाम-स्वरूप उसके ऐश्वर्य सत्ता का नाश होता है।

राजन्नसाध्वमात्येभ्यश्चोरादिभ्यः प्रजा नृपः ।
रक्षन् यथा बलिं गृह्णन्निह प्रेत्य च मोदते ॥
(श्री० भा० ४।१४।१७)

जो राजा प्रजा से जैसे कर वसूल करता है, उसी प्रकार अपने दुष्ट मन्त्रियो तथा चोरो आदि से उसकी रक्षा करता है, वह जीवन-पर्यन्त इस लोक मे तथा बाद मे परलोक मे आनन्द प्राप्त करता है।

आयुक्तकेभ्यश्चोरेभ्यः परेभ्यो राजवल्लभात् ।
पृथिवीपतिलोभाच्च प्रजानां पञ्चधा भयम् ॥
पञ्च प्रकारमप्येतदपोह्यं नृपतेर्भयम् ॥
(का० नी० ५।८१-८२)

अपने अधिकारियो, चोरी करनेवालो, शत्रुओ, राजा के अपने प्रिय पात्रो, और उनके स्वत के लोभ—इन पाच प्रकार के भयो से राजा को अपनी प्रजा की रक्षा करनी चाहिए।

: २४ :

सामान्य धर्म

शौचमाचमनं स्नानं संध्योपासनमार्जवम् ।
तीर्थसेवा जपोऽस्पृश्याऽभक्ष्याऽसंभाष्यवर्जनम् ।।
सर्वाश्रमप्रयुक्तोऽयं नियमः कुलनन्दन ।।
(श्री० भा० ११।१७,३४-३५)

हे उद्धव, शौच (अन्दर की और बाहर की पवित्रता) आचमन, स्नान, सध्योपासन, सरलता, तीर्थ-सेवन, जप, अस्पर्श्य, अभक्ष्य तथा अवाच्य का त्याग ये सभी आश्रमो (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास) के व्यापक नियम है ।

प्रातःस्नानं प्रशंसन्ति दृष्टाऽदृष्टकरं हि तत् ।
सर्वमर्हति पूतात्मा प्रातःस्नायी जपादिकम् ।।
(द० स्मृ० २।१२)

पडित लोग प्रात स्नान की प्रशसा करते है, क्योकि वह दृष्ट (शारीरिक काति, स्वच्छता आदि) तथा अदृष्ट (पुण्य) फल देता हे । प्रात स्नान करनेवाला मनुष्य जपादि सव पवित्र कार्य करने के योग्य होता है ।

सध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु ।
यदन्यत्कुरुते कर्म न तस्य फलमश्नुते ।।
(द० स्मृ० २।२३)

सध्या (प्रार्थना) न करनेवाला मनुष्य नित्य अपवित्र माना जाता

है। वह सब प्रकार के कार्य करने के अयोग्य होता है। संध्या किये बगैर वह जो कोई कार्य करता है, उसे उनका फल नहीं मिलता।

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठन्नैशमेनो व्यपोहति।
पश्चिमां तु समासीनो मलं हन्ति दिवाकृतम्॥
(म० स्मृ० २।१०२)

प्रातःकाल की संध्या के समय उपासना करते हुए मनुष्य रात्रि में किये पापों का निवारण करता है और सायं संध्या के समय उपासना करते हुए वह दिन में किये दोषों का निवारण करता है।

यस्य पादौ च हस्तौ च मनश्चैव सुसंयतम्।
विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते॥
(वि० ध० ३।२७३।६)

जिसके हाथ, पैर और मन अच्छी तरह संयत अर्थात् नियमित रहते हैं और विद्या, तप तथा कीर्ति जिसने प्राप्त की है, वह मनुष्य तीर्थ का फल प्राप्त करता है।

जप्यं सिद्धिकरं लोके द्विजानां परिकीर्तितम्।
स्वाध्यायस्तु भवत्युच्चैरुपांशुर्जप्य उच्यते॥
(वि० ध० ३।२७८।१)

जोरों से उच्चारण करते हुए वेदों का पाठ करना स्वाध्याय कहलाता है, मन से उच्चारण करना जप कहलाता है और द्विजों के लिए जप करना ही क्रिया की सिद्धि कहा गया है।

आसनाच्छयनाद्यानात्संभाषात्सहभोजनात् ।
संक्रामन्तीह पापानि तैलबिन्दुरिवाम्भसि ॥
(पा० स्मृ० १२।७७)

पापियो के साथ बैठने, सोने, चलने, बोलने और भोजन करने से उनके पाप पानी मे पडे तेल बिन्दु के समान ससर्ग करनेवालो मे फैल जाते है । अत अपवित्रो का ससर्ग त्याज्य समझना चाहिए ।

एवमेव द्विजा नास्ति तपो नाऽनशनात्परम् ।
पापाना पापशमनं सर्वेषामीप्सितप्रदम् ॥
उपवासो विनिर्दिष्टो विशेषाद्देवतापर. ।
(वि० ध० ३।२७४।६,११)

हे द्विजगण, उपवास से वडा, कोई तप नही है ।

उपवास-रूपी तप पापियो के पाप की शाति करने और सव लोगो को इच्छित वस्तु देनेवाला होता है । अगर किसी विशेष (दैवी) उद्देश्य से (विधिपुर सर) उपवास किया जाय तो वह विशेष फल देनेवाला होता है ।

गुणैस्तु सह यो वासो गतदोषस्य मानदाः ।
उपवासः स विज्ञेयो न शरीरस्य शोषणम् ॥
(वि० ध० ३।२७५।४)

हे मान देनेवाले, उपवास के बाद अगर निर्दोष हुए मनुष्य का सद्-गुणो के साथ सम्पर्क हो तो वही उपवास उत्तम है । केवल शरीर-शोषण करना उपवास नही कहलाता ।

गृहस्थस्य क्रियात्यागो व्रतत्यागो वटोरपि ।
तपस्विनो ग्रामसेवा भिक्षोरिन्द्रियलौल्यता ।।
आश्रमापसदा ह्येते खल्वाश्रमविडम्बकाः ।।
(श्री० भा० ७।१५।३८)

गृहस्थ होकर विहित गृहस्थाश्रमी कार्यों का त्याग, ब्रह्मचारी होकर ब्रह्मचर्य-व्रत का भंग करना, वानप्रस्थ होकर गांव में बसना तथा सन्यासी होकर इंद्रियों को तृप्त करने की लालसा करना—ये सब आडम्बरी कृत्य समझने चाहिए। इस प्रकार के कार्य करनेवाले व्यक्ति अपने आश्रम के कलंक होते हैं।

: २५ :

माता-पिता-गुरु

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः ।
भ्राता मरुत्पतेर्मूर्तिर्माता साक्षात्क्षितेस्तनुः ।।
(श्री० भा० ६।७।२९)

आचार्य ब्रह्मा का प्रतिरूप है, पिता प्रजापति का प्रतिरूप है, भाई मरुतों के पति इंद्र का और माता साक्षात् पृथिवी का प्रतिरूप है।

ज्येष्ठो भ्राता पिता चैव यश्च विद्यां प्रयच्छति ।
त्रयस्ते पितरो ज्ञेया धर्मे च पथि वर्तिनः ।।
(वा० रा० ४।१८।१३)

बड़े भाई, पिता और शिक्षा देनेवाले गुरु ये तीनों धर्मानुकूल मार्ग

वालो के लिए के समान है।

जनिता चोपनेता च यस्तु विद्या प्रयच्छति ।
अन्नदाता भयत्राता पञ्चैते पितरः स्मृताः ॥
(चा० नी० ५।२२)

जन्म देनेवाले, यज्ञोपवीत देनेवाले, विद्या देनेवाले, अन्न देकर पोषण करनेवाले और भय-सकट से बचानेवाले—इन पाचो को शास्त्रो मे पिता कहा गया है।

राजपत्नी गुरोः पत्नी मित्रपत्नी तथैव च ।
पत्नीमाता स्वमाता च पञ्चैता मातरः स्मृताः ॥
(चा० नी० ५।२३)

राजा की पत्नी, गुरु की पत्नी, मित्र की पत्नी, पत्नी की माता तथा अपनी माता इन पाचो को शास्त्रो मे माता कहा गया है।

शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहण धारणं तथा ।
ऊहोऽपोहोऽर्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः ॥
(का० नी० ४।२१)

सेवा-भाव और सुनने की इच्छा, सुने हुए को समझना, समझे हुए विषयो को धारण—स्थिर करना, शब्दो द्वारा न कहे गये विषय को भी तर्क द्वारा ग्रहण करके जान लेना, युक्ति-रहित व्यर्थ बात का त्याग, साध्य और साधन का ज्ञान प्राप्त करना और वस्तु का सत्य स्वरूप जानना, ये बुद्धि के गुण है।

कृतज्ञाद्रोहिमेधाविशुचिकल्पानसूयकाः ।
अध्याप्या धर्मतः साधुशक्ताप्तज्ञानवित्तदाः ॥
(या० स्मृ० १।२८)

किये हुए उपकार को जाननेवाले, दयालु, समझे हुए को याद रखनेवाले, पवित्र, मन और शरीर से स्वस्थ—समर्थ, गुणो मे दोषबुद्धि न रखनेवाले, परकार्य को साधनेवाले, सच्चरित्र, सेवा और शिक्षण के काम मे समर्थ-शक्तिमान, सम्बन्धी, विद्या देनेवाले और धन देनेवाले शिष्य को गुरु अपना धर्म समझकर पढाये ।

धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वापि तद्विधा ।
तत्र विद्या न वक्तव्या शुभं बीजमिवोषरे ॥
(म० स्मृ० २।११२)

जिस शिष्य मे धर्म, अर्थ तथा सेवा-भाव न हो, गुरु को उसे विद्यादान नही देना चाहिए। ऊसर भूमि मे जैसे बीज बोने से नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार ऐसे शिष्य को दी गई विद्या व्यर्थ जाती है ।

क्षणशः कणशश्चैव विद्यामर्थं च चिन्तयेत् ।
क्षणत्यागे कुतो विद्या कणत्यागे कुतो धनम् ॥
(सू० र० भा०)

विद्यार्थी को प्रतिक्षण विद्या का ही विचार करना चाहिए। इसी प्रकार धनार्थी को कण-कण जोडकर द्रव्य-संग्रह करना चाहिए। क्षण को बिता देने मे विद्या और कण को छोड देने से धन मिलना कहाँ संभव है ?

आलस्यं मदमोहौ च चापलं गोष्ठिरेव च।
स्तब्धता चाभिमानित्वं तथाऽत्यागित्वमेव च॥
एते वै सप्त दोषाः स्युः सदा विद्यार्थिना मताः॥
(म० भा० १२।३२९।३)

आलस्य, मद, मोह, चपलता, गप्पे मारना, उद्धतता, अभिमान, भोग-वृत्ति, ये सात विद्यार्थियो के लिए अवगुण माने गए है।

कामक्रोधौ तथा लाभं स्वादु शृङ्गारकौतुके।
अतिनिद्राऽतिसेवा च विद्यार्थी ह्यष्ट वर्जयेत्॥
(चा० नी० ११।१)

काम, क्रोध, लोभ, स्वाद, शृङ्गार, व्यर्थ की बातो मे ध्यान देना, अतिशय निद्रा, शक्ति से ज्यादा सेवा—ये आठ वस्तुए विद्यार्थियो के लिए त्याज्य है।

अशुश्रूषा त्वरा श्लाघा विद्यायाः शत्रवस्त्रयः।
(म० भा० ५।४०।४)

सेवा का अभाव, जल्दबाजी, अपनी प्रशसा सुनने की उत्सुकता—ये तीन बाते विद्या का नाश करनेवाली होने के कारण विद्या की शत्रु मानी गई है।

यथामति यथापाठ तथा विद्या फलिष्यति।
(म० भा० १२।३२७।४४)

जैसी बुद्धि और जैसा अध्ययन होगा वैसी ही विद्या और उसका फल होगा।

कुराजराज्येन कुतः प्रजासुखं
कुमित्रमित्रेण कुतो निवृत्तिः ।
कुदारदारैश्च कुतो गृहे रतिः
कुशिष्यमध्यापयतः कुतो यशः ॥
(चा० नी० ६।१४)

वुरे राजा के राज्य मे प्रजा को सुख कहा ? मित्र कुमित्र हो तो निवृत्ति कहा ? दुष्टा स्त्री हो तो घर मे सुख कहा और शिष्य दुष्ट हो तो गुरु को यश कहा ?

नाद्रव्ये निहिता काचित्क्रिया फलवती भवेत् ।
न व्यापारशतेनापि शुकवत्पाठ्यते बकः ॥
(सु० भा० र० १६२।४३०)

अपात्र के प्रति किया गया कोई भी प्रयत्न सफल नही होता। वगुले को शुक के समान सौ बार प्रयत्न करने पर भी पढ़ाया नहीं जा सकता ।

वितरति गुरु प्राज्ञे विद्यां यथैव तथा जड़े
न तु खलु तयोर्ज्ञाने शक्तिं करोत्युपहन्ति वा ।
भवति च पुनर्भूयान्भेदः फलं प्रति तद्यथा
प्रभवति शुचिर्बिम्बोद्ग्राहे मणिर्न मृदां चयः ॥
(उ० २।४)

गुरु जैसे बुद्धिमान् शिष्य को विद्या देता है वैसे ही जड़ बुद्धि को भी विद्या देता है। उन दोनों में से किसी की भी ज्ञानप्राप्त करने की शक्ति को वह न तो पैदा करता है, न नष्ट करता है। फिर भी दोनों में

बीच विद्या का फल उत्पन्न होने मे बडा भेद हो जाता है। जैसे शुद्ध मणि बिम्ब ग्रहण करने मे समर्थ होती है, मिट्टी के साधारण ढेले मे वह शक्ति नही होती।

अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्।
वाक्चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता॥
(म० स्मृ० २।१५९)

धर्म की भावनावाला मनुष्य प्राणियो को उनके कल्याण के लिए जो शिक्षण दे वह अहिंसा द्वारा मीठी और कोमल वाणी मे दे।

: २६ :

मित्रता

ययोरात्मसमं वित्तं जन्मैश्वर्याकृतिर्भवः।
तयोर्विवाहो मैत्री च नोत्तमाधमयोः क्वचित्॥
(श्री० भा० १०।६०।१५)

जिनकी सपत्ति, जन्म, सामर्थ्य, रूप और अवस्था समान हो, उन दोनो मे ही परस्पर मित्रता तथा विवाह-सम्बन्ध ठीक रहते है। असमान, ऊची-नीच होने से, मित्रता तथा विवाह-सम्बन्ध कभी ठीक नही रहते।

शुचित्वं त्यागिता शौर्यं सामान्यं सुखदुःखयोः।
दाक्षिण्यं चानुरक्तिश्च सत्यता च सुहृद्गुणाः॥
(सु० भा० र० ८८।३)

पवित्रता, त्याग-वृत्ति (उदारता), शौर्य, एक दूसरे के सुख-दुःख में भाग लेना, अनुकूलता, प्रीति तथा सचाई—ये मित्र के सद्गुण हैं।

पापान्निवारयति योजयते हिताय
गुह्यं निगूहति गुणान्प्रकटीकरोति ॥
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः ॥
(भर्तृ० नीति० ७३)

(अपने) मित्र को पाप करने से रोकता है, हितकारी कार्य में नियुक्त करता है, गुप्त रखने योग्य बात को गुप्त रखता है, गुणों को प्रकट करता है, आपत्ति में होने पर साथ नहीं छोडता, तथा समय पर धनादि की सहायता करता है सत्पुरुष लोग इन्हें सन्मित्रों के लक्षण मानते हैं।

पात्रमपात्रीकुरुते दहति गुणं स्नेहमाशु नाशयति।
अमले मलं नियच्छति दीपज्वालेव खलमैत्री ॥
(सु० भा० ८८।६)

दुष्ट की मित्रता दीपक की ज्वाला (लौ) के समान होती है। जैसे दीपक की ज्वाला दीपक को गन्दा कर देती है उसी प्रकार दुष्ट अपने मित्र को अयोग्य कर देता है। जैसे दीपक की ज्वाला बत्ती को जला देती है, उसी प्रकार दुष्ट मित्र के गुणों को नष्ट कर देता है। जैसे दीपक की ज्वाला तेल को जला डालती है उसी प्रकार दुष्ट मित्र में प्रेम को नष्ट कर देता है तथा जैसे दीपक की ज्वाला निर्मल वस्तु पर भी कालिमा पोत देती है उसी प्रकार दुष्ट निर्मल मित्र को गन्दा बना देता है।

प्राणैरपि हिता वृत्तिरद्रोहो व्याजवर्जनम्।
आत्मनीव प्रियाधानमेतन्मैत्रीमहाव्रतम् ॥
(सु० भा० ८८।१७)

अपना प्राण देकर भी मित्र का हित करना, उसका द्रोह न करना, कपट न करना, अपने समान ही अपने मित्र का भी हित करना, मित्रता के ये महाव्रत है।

इच्छेच्चेद्विपुलां प्रीतिं त्रीणि तत्र विवर्जयेत्।
वाग्वादमर्थसंबंधं परोक्षे दारभाषणम्॥
(सु० भा० र० १५८।२२७)

मनुष्य अगर मित्रता या प्रीति को अधिक बनाये रखना चाहता है तो उसे इन तीन बातो का त्याग करना चाहिए—

१. बातचीत मे वाद-विवाद २ पैसे का सम्बन्ध ३. मित्र की अनुपस्थिति मे उसकी पत्नी के साथ बातचीत।

परोक्षे कार्यहन्तार प्रत्यक्षे प्रियवादिनम्।
वर्जयेत्तादृशं मित्रं विषकुम्भं पयोमुखम्॥
(सु० भा० र० १)

पीठपीछे काम विगाडनेवाले और रूबरू मीठा बोलनेवाले मित्र को ऊपर से दूध और अन्दर जहर से भरे घडे के समान दूर रखो।

रहस्यभेदो याच्ञा च नैष्ठुर्यं चलचित्तता।
क्रोधो निःसत्यता द्यूतमेतन्मित्रस्य दूषणम्॥
(सु० भा० र० ८८२)

मित्र की गुप्त बात को प्रकाशित करना, मागना, कठोरता, चचल मनोवृत्ति, क्रोध, असत्य और जुआ खेलना, ये मित्रो के दूषण कहे गये हैं।

दुराचारी दुष्टदृष्टिर्दुरावासी च दुर्जनः ।
यन्मैत्री क्रियते पुंसां स तु शीघ्रं विनश्यति ॥
(चा० नी० २।१६)

दुराचारी, कुदृष्टि रखनेवाले, बुरी जगह बुरे लोगों के साथ रहनेवाले, तथा स्वभाव से ही जो दुर्जन हो, ऐसे मनुष्य के साथ मित्रता की जाय तो मित्रता करनेवाला जल्दी ही नष्ट हो जाता है ।

: २७ :

सत्संगति

येषां त्रीण्यवदातानि विद्या योनिश्च कर्म च ।
तान्सेवेत्तैः समास्या हि शास्त्रेभ्योऽपि गरीयसी ॥
(म० भा० ३।१।२७)

विद्या, जन्म और कर्म जिनके शुद्ध हो उनकी सेवा करनी चाहिए। शास्त्रों की अपेक्षा ऐसे लोगों का संग विशेष ज्ञान देनेवाला होता है ।

हीयते हि मतिस्तात हीनैः सह समागमात् ।
समैश्च समतामेति विशिष्टैश्च विशिष्टताम् ॥
(म० उ० भा० ८६।६)

हीन मनुष्यों के सम्पर्क में आने से बुद्धि हीन होती है, समान कोटि के मनुष्यों के सम्पर्क से बुद्धि समान रहती है और विशिष्ट पुरुषों के सम्पर्क में रहने से बुद्धि विशिष्ट होती है ।

महाजनस्य संसर्गः कस्य नोन्नतिकारकः ।
रथ्याम्बु जाह्नवीसंगात्त्रिदशैरपि वन्द्यते ।।
(सु० र० भा० ८६।२)

महान लोगो के सम्पर्क से किसकी उन्नति नही होती । गलियो का पानी गगाजी मे जाने पर वह देवताओ द्वारा वदित होता है ।

जाड्यं धियो हरति सिचति वाचि सत्यम् ।
मानोन्नति दिशति पापमपाकरोति ।।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिम् ।
सत्संगति. कथय कि न करोति पुंसाम् ।।
(भर्तृ० नीति० २३)

सत्सगति बुद्धि की जडता को दूर करती है, वाणी मे सचाई लाती है, सम्मान तथा उन्नति का विस्तार करती है, पाप को दूर करती है, चित्त को प्रसन्न करती है और कीर्ति का दिशाओ मे विस्तार करती है । सत्सगति पुरुषो के लिए क्या नही करती ?

सत्संगाद्भवति हि साधुता खलानां ।
साधूनां नहि खलसंगत खलत्वम् ।।
आमोदं कुसुमभव मृदेव धत्ते ।
मृद्गन्धं नहि कुसुमानि धारयन्ति ।।
(चा० नी० १२।७)

सज्जनो के सग से दुर्जनो मे भी सज्जनता आ जाती है । परन्तु दुर्जनो के सग मे सज्जनो मे दुर्जनता नही आती । जैसे पुष्प की सुगध मिट्टी मे अवश्य आ जाती है, पर मिट्टी की गध पुष्पो मे नही आती ।

अहो दुर्जनसंसर्गान्मानहानिः पदे पदे ।
पावको लोहसंगेन मुद्गरैरभिहन्यते ॥
(सु० र० भा० ८७।१)

दुर्जन के संग मनुष्य को पग-पग पर मानहानि प्राप्त होती है। लोहे के सग से अग्नि भी हथौडे के द्वारा खूब पीटी जाती है।

दुष्टता दुष्टसंसर्गाददुष्टमपि गच्छति ।
सुराबिन्दुनिपातेन पञ्चगव्यघटो यथा ॥
(सु० र० भा० ८७।३)

जैसे शराब की एक बूद पचगव्य से भरे घडे को अपवित्र कर डालती है वैसे ही निर्दोष मनुष्य भी दुष्ट मनुष्य की सगति से दुष्टता को प्राप्त हो जाता है।

दुर्वृत्तः क्रियते धूर्तैः श्रीमानात्मविवृद्धये ।
किं नाम खलसंसर्गः कुरुते नाश्रयाशवत् ॥
(सु० र० भा० ८७।५)

धूर्त मनुष्य अपने लाभ के लिए धनवान मनुष्य को दुराचारी बना देते है। दुर्जन का साथ, आश्रय देनेवाले का, कौन-सा अपकार्य नहीं करता ? जैसा कि अग्नि अपने आधार को भी जलाता है।

न धर्मशास्त्रं पठतीति कारणम् ।
न चापि वेदाध्ययनं दुरात्मनः ॥
स्वभाव एवात्र तथातिरिच्यते ।
यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पयः ॥
(सु० र० भा० ८४।१६)

दुर्जन मनुष्य सद्ग्रथो का अध्ययन करता हो तो भी उसका वह अध्ययन उसके स्वभाव मे सौजन्य की वृद्धि नही कर सकता, क्योकि मुख्य बात स्वभाव की है। जैसे स्वभाव से ही गाय मधुर दूध देनेवाली होती है।

खलः करोति दुर्वृत्तं नूनं फलति साधुषु।
दशाननोऽहरत्सीतां बधनं स्यान्महोदधेः॥
(सु० र० भा० ५५।५४)

दुराचरण तो करते है दुर्जन मनुष्य, पर उनके ससर्ग मे आनेवाले भले आदमी को उसका फल भोगना पडता है। जैसे सीता का हरण तो रावण ने किया, परन्तु बन्धन मे पडना पडा समुद्र को (उसपर पुल बाधा गया।)

: २८ :

विद्या-विनय

नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः।
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम्॥
(म० भा० १२।३२९)

विद्या के समान नेत्र नही, सत्य के समान तप नही, राग (मोह) के समान दु ख नही और त्याग के समान सुख नही होता।

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं, ततः सुखम्॥
(हि०)

विद्या विनय प्रदान करती है, विनय से पात्रता (योग्यता) आती है, पात्रता से मनुष्य धन प्राप्त करता है, धन पास मे होने से धर्म किया जा सकता है और धर्म करने से सुख की प्राप्ति होती है।

किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या।
(सु० र० भा०)

विद्या कल्पवृक्ष के समान है। वह कौन-सी वस्तु है, जिसे विद्या प्राप्त नही करा सकती ?

सर्वद्रव्येषु विद्यैव द्रव्यमाहुरनुत्तमम्।
अहार्यत्वादनर्घ्यत्वादक्षय्यत्वाच्च सर्वथा॥
(सु० र० भा० २६।३)

सब प्रकार के द्रव्यो मे विद्या ही सबसे उत्तम द्रव्य कहा गया है, क्योकि उसे कोई छीन नही सकता, उसका मोल नही हो सकता और उपयोग करने पर वह नष्ट नही होता।

अजरामरवत्प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत्।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्॥
(सु० र० भा० १६२।४२७)

मनुष्य अपनेको अजर (वृद्धावस्था-रहित) तथा अमर (मृत्यु-रहित) मानकर विद्या प्राप्त करने का विचार करे। लेकिन धर्म का आचरण यह मानकर करे कि मौत ने सिर के बाल पकड़ रखे है, अर्थात् वह मौत के मुंह मे पड़ा हुआ है।

स्वाध्यायसेवा कर्तव्या नित्यमेव विजानता ।
स्वाध्यायेन तदाप्नोति यत्किञ्चिन्मनसेच्छति ।।
(वि० ध० ३।२५७।१)

ज्ञानी मनुष्य को नित्य स्वाध्याय करना चाहिए। ऐसे मनुष्य की इच्छाए स्वाध्याय से पूर्ण हो जाती है।

स्वाध्याय एवेह परं पवित्रं
स्वाध्याय एवेह तथैव यज्ञः ।
स्वाध्यायवानेव नरः प्रयाति
त्रिविष्टपं मोक्षमथाप्यभीष्टम् ।।
(वि० ध० ३।२५७।१)

इस लोक मे स्वाध्याय ही बडी पवित्र वस्तु है। स्वाध्याय ही यहा मुख्य यज्ञ माना गया है। स्वाध्याय करनेवाला मनुष्य स्वर्ग, मोक्ष या दूसरी कोई भी इच्छित वस्तु को प्राप्त कर लेता है।

तत्कर्म यन्न बन्धाय सा विद्या या विमुक्तये ।
आयासायाऽपरं कर्म विद्यान्या शिल्पनैपुणम् ।।
(वि० पु० १।१९।४१)

जो बधनकारक न हो वह सत् कर्म होता है और जो मुक्ति दे वह विद्या होती है। इसके अतिरिक्त जो कर्म है वे सब क्लेशकारक होते है। इसी प्रकार दूसरी जो विद्याए है, वे कला-कौशल रूप—शरीर-निर्वाह के साधन रूप होती है।

त्रयी वार्ता दण्डनीतिस्तिस्रो विद्या हि मानवाः।
त्रय्या एव विभागोऽयं सेयमान्वीक्षिकी मता ॥
(का० नी० २।३)

आन्वीक्षिक्यात्मविज्ञानं धर्माधर्मौ त्रयीस्थितौ।
अर्थानर्थौ तु वार्तायां दंडनीतिर्नयानयौ ॥
(का० नी० २।७)

त्रयी, वार्ता, दण्डनीति ये तीन प्रकार की विद्याए, मनु के शिष्यो ने बताई है। त्रयी विद्या का एक भाग आन्वीक्षिकी माना गया है।

आन्वीक्षकी अर्थात् आत्म-ज्ञान देनेवाली विद्या, धर्म और अधर्म का ज्ञान देनेवाली विद्या त्रयी कहलाती है। अर्थ तथा अनर्थ का ज्ञान कराने वाली विद्या वार्ता कहलाती है और नीति तथा अनीति का जिससे ज्ञान हो वह दण्डनीति कही गई है।

विद्या हृद्यापि सावद्या विना विनयसंपदम्।
(सु० र० भा०)

विद्या सुन्दर होते हुए भी विनय-रूपी सम्पत्ति से रहित होने पर दूषित हो जाती है, अर्थात् विनय से ही विद्या की शोभा होती है।

तिष्ठतां तपसि पुण्यमासृजन्।
संपदोऽनुगुणयन्सुखैपिणाम्।
योगिनां परिणमन्विमुक्तये।
केन नास्तु विनयः सतां प्रियः।
(ना० कि० १३।४८)

तपस्या मे लीन तपस्वियो मे पुण्य उत्पन्न करनेवाला, सुख की इच्छा रखनेवालो की समृद्धि को बढानेवाला और योगीजनो को मुक्ति देनेवाला विनय सज्जनो को भला क्यो प्रिय नही लगेगा ?

नयस्य विनयो मूलं विनयः शास्त्रनिश्चयः ।
विनयो हीन्द्रियजयस्तुद्यु क्तः शास्त्रमृच्छति ।।
तन्निष्ठस्य हि शास्त्रार्थाः प्रसीदन्ति ततः परम् ।।

(का० नी० ११।२१)

नये (नीति-शास्त्र) का मूल विनय है। यह विनय दो प्रकार का होता है—शास्त्र द्वारा बताया हुआ तथा इद्रिय-सयम से उत्पन्न । दोनो प्रकार के विनयो से सम्पन्न मनुष्य ही नीतिशास्त्र का तत्व जानता है तथा विनय से युक्त मनुष्य को शास्त्रतत्व स्वय ज्ञात हो जाता है ।

: २९ :

शील और सदाचार

श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यड् निबद्धं स्वेषु कर्मसु ।
धर्ममूल निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः ।।

(म० स्मृ० ४।१५५)

श्रुति और स्मृति मे अपने-अपने वर्णाश्रम के अनुसार मनुष्य के जो कार्य वताये गए है, उस धर्म के मूल उन सदाचार रूप कर्मो का मनुष्य को आलस-रहित होकर सेवन करना चाहिए ।

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः।
आचाराद्धनमक्षय्यं आचारो हन्त्यलक्षणम् ॥
(म० स्मृ० ४।१५६)

मनुष्य सदाचार से ही दीर्घ आयु, मनोवांछित संतान, तथा अक्षय धन प्राप्त करता है और सदाचार व्यक्ति के अमंगल नष्ट करता है।

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः।
तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन् नरिष्यते ॥
(म० स्मृ० ४।१७८)

किसी व्यक्ति के पूर्वज सज्जनो के जिस मार्ग पर चले हो उसी सत्-मार्ग पर उस मनुष्य को चलना चाहिए, क्योकि ऐसा करने से वह दुखी नही होता।

आचारहीनं न पुनन्ति वेदा
यद्यप्यधीताः सह पड्भिरंगैः।
छन्दास्येनं मृत्युकाले जहन्ति
नीडं शकुंता इव जातपक्षाः ॥
(म० स्मृ० ६।३)

आचारहीन मनुष्य को वेद भी पवित्र नही कर सकते, भले ही उसने वेदो का छह अगो के साथ पाठ किया हो। मृत्यु के समय आचारहीन मनुष्य का साथ वेद उसी प्रकार छोड देते है, जिस प्रकार पर निकलते ही पक्षी अपने घोसले को छोड देते है।

शीलं प्रधानं लोकेऽस्मिंस्तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठतम् ।
शीलेन सर्वमाप्नोति यत्किञ्चिन्मनसेच्छति ।।
क्रिया शीलविहीनस्य भवन्ति विफलाः कृताः ।
तस्माच्छीलवता भाव्यं पुरुषेण विजानता ।।
(वि० ध० ३।२६३।१, २)

इस लोक मे शील (सदाचार) ही मुख्य है । उसके ही आधार पर बकुछ प्रतिष्ठित है । मनुष्य मन से जिस किसी वस्तु की इच्छा करता , वह शील के द्वारा ही प्राप्त करता है । शील-विहीन मनुष्य द्वारा ो गई सारी क्रियाए विफल होती हैं । इस कारण ज्ञानी मनुष्य को ीलवान होना चाहिए ।

धर्म. सत्यं तथा वृत्तं बलंचैव तथाप्यहम् ।
शील मूला महाप्राज्ञ सदा नास्त्यत्र संशय. ।।
(म० भा० शां० १२४।६२)

(श्रीलक्ष्मी भक्त प्रह्लाद से कहती है)—हे महाप्राज्ञ, धर्म का, ात्य का, सदाचार का, बल का तथा स्वय मेरा भी मूल शील मे ही है, ासमे कोई सशय नही है ।

यदन्येषां हितं न स्यादात्मनः कर्म पौरुषम् ।
अपत्रपेत वा येन न तत्कुर्यात्कथंचन ।।
(म० भा० शां० १२४।६७)

जिस कार्य मे दूसरे का हित न होता हो तथा जिसे करने में स्वयं को लज्जा अनुभव होती हो, ऐसा कार्य मनुष्य को किसी भी समय नहीं करना चाहिए ।

दाक्षिण्यं परमं लोके नृणां संवननं परम् ।
(वि० ध० ३।२६३।१)

इस लोक मे शिष्टाचार सबसे श्रेष्ठ वशीकरण है ।

आनृशस्यं परो धर्मो लोकेऽस्मिन्द्विजसत्तमाः ।
तस्मादात्मवता भाव्यं कृतज्ञेन नरेण तु ॥
छायायां यस्य विश्रान्तो नरः कथमथापि वा ।
तस्मात्पत्रं न हिंसेत कृतज्ञत्वमनुस्मरन् ॥
(वि० ध० ३।२७०।१, १८)

हे द्विजसत्तमो, इस लोक मे दया ही उत्तम धर्म है । अत मनुष्य को दया का पालन कृतज्ञता से करना चाहिए । जैसे किसी वृक्ष की छाया मे हमने विश्राम किया हो तो उस उपकार के बदले उसकी कृतज्ञता को याद करके उस वृक्ष का पत्ता भी नही तोडना चाहिए ।

कुतः कृतघ्नस्य यशः कुत स्थानं कुत सुखम् ।
अश्रद्धेयः कृतघ्नो हि कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥
(म० भा० शां० १७३।२०)

कृतघ्न मनुष्य को यश कहा से मिलता है ? उसकी प्रतिष्ठा कहा होती है ? सुख भी कहा मिलता है ? क्योंकि कृतघ्न मनुष्य विश्वसनीय होता ही नही । कृतघ्न मनुष्य की कोई निष्कृति नही है अर्थात, उसका किसी प्रकार छुटकारा नही होता ।

गोघ्ने चैव सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा ।
निष्कृतिर्विहिता सद्भिः कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥
(वा० रा० ४।३४।१२)

गौहत्या करनेवाले, मदिरापान करनेवाले, चोरी और व्रतभग करनेवाले के लिए उनके पाप-निवारक प्रायश्चित्त सत्पुरुषो ने वताये है, परन्तु कृतघ्नो के लिए कोई प्रायश्चित्त नही है ।

मन्यन्ते वै पापकृतो न कश्चित्पश्यतीह नः ।
तांस्तु देवाः प्रपश्यंति स्वस्यैवान्तरपूरुषः ।।
(म० स्मृ० ८।८५)

मनुष्य पाप कर्म करते है कि उन्हे कोई देखता नही है, परन्तु देवगुण और उसका स्वत का अतर्यामी उन्हे अच्छी तरह देखता है ।

कृत्वा पापं हि संतप्य तस्मात्पापात्प्रमुच्यते ।
नैव कुर्यां पुनरिति निवृत्या पूयते तु सः ।।
(म० स्मृ० ११।२३०)

पाप कर्म करने के वाद (पश्चात्ताप) करने से मनुष्य पापमुक्त हो जाता है, और आगे से पाप न करने के सकल्प का पालन करने पर वह पवित्र हो जाता है ।

अज्ञानाद्यदि वा ज्ञानात् कृत्वा कर्म विगर्हितम् ।
तस्माद्विमुक्तिमन्विच्छन् द्वितीयं न समाचरेत् ।।
(म० स्मृ० ११।२३२)

ज्ञानपूर्वक या अज्ञानपूर्वक निंदित (निषिद्ध) कर्म हो जाने के वाद उस दोष—पाप से यदि मुक्ति चाहता हो तो मनुष्य पुनः वैसा (निषिद्ध-पाप) कर्म न करे ।

धर्म एव हतो हंति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हंतव्यो मा नो धर्मो हतोऽवधीत् ॥
(म० स्मृ० ८।१५)

नष्ट किया गया धर्म ही हमे नष्ट करता है, रक्षित धर्म ही हमारी रक्षा करता है। इस कारण धर्म का नाश नही करना चाहिए, ताकि नष्ट धर्म हमे नष्ट न करे।

नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव ।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥
(म० स्मृ० ४।१७२)

जैसे पृथिवी शीघ्र फल नही देती, वैसे ही ससार मे आचरित अधर्म तत्काल फल नही देता। वह अधर्म करनेवाले को धीरे-धीरे जड-मूल से नष्ट कर देता है।

यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत्पुत्रेषु नप्तृषु ।
न त्वेव तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः ॥
(म० स्मृ० ४।१७३)

जो आचरित अधर्म अपने ऊपर फल नही करता तो पुत्रो पर करता है। अगर पुत्रो पर नही किया तो पौत्रो पर करता है। किया हुआ अधर्म कर्ता को विना फल दिये नही छोडता।

शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसंभवम् ।
कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमा. ॥
(म० स्मृ० १२।३)

शरीर, मन और वचन से जो शुभ और अशुभ कर्म किया जाता है, उसके अनुसार ही मनुष्य की उत्तम, मध्यम और अधम गति होती है।

तस्येह त्रिविधस्यापि त्र्यधिष्ठानस्य देहिनः।
दशलक्षणयुक्तस्य मनो विद्यात्प्रवर्तकम् ॥
(म० स्मृ० १२।४)

देहधारी के तीनो प्रकार के (उत्तम, मध्यम और अधम) मन, वचन और शरीर मे रहनेवाले, दस लक्षणो से युक्त कर्म का प्रवर्तक मन है, ऐसा समझना चाहिए।

(दस लक्षणवाले कर्म निम्न प्रकार है—)

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसाऽनिष्टचिन्तनम्।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम् ॥
(म० स्मृ० १२।५)

पराया धन अन्याय से लेने की चिंता, मन से निषिद्ध कर्म करने का ध्यान और परलोक नही है, यह शरीर ही आत्मा है, ऐसा मिथ्या आग्रह, ये तीन प्रकार के कर्म मानस पाप है।

पारुष्यमनृतञ्चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः।
असबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं चापि सर्वश. ॥
(म० स्मृ० १२।६)

अप्रिय बोलना, असत्य भाषण करना, पीठपीछे किसीकी बुराई करना, सत्य होने पर भी बिना प्रयोजन बकना, ये चार प्रकार के कर्म वाचिक पाप माने गए है।

अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाऽविधानतः ।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥
(म० स्मृ० १२।७)

विना दिया हुआ धन लेना, विधि-रहित हिंसा, और परस्त्री-संग ये तीन कर्म शारीरिक पाप माने गये है ।

यः शास्त्र विधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥
तस्माच्छास्त्र प्रमाणं ते कार्यकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥
(भ० गी० १६।२३-२४)

(श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि) जो मनुष्य शास्त्र-विधि[1] को छोड़कर स्वेच्छा से भोगो मे लीन होता है, वह न सुख पाता है, न परम गति पाता है ।

इसलिए कार्य और अकार्य का निर्णय करने मे तुझे शास्त्र को प्रमाण मानना चाहिए । शास्त्र-विधि क्या है, यह जानकर तुझे कर्म करना उचित है ।

अश्रद्धापरमं पापं श्रद्धा पाप प्रमोचनी ।
(म० भा० १२।२५४।१६)

अश्रद्धा परम पाप है और श्रद्धा पाप का नाश करनेवाली है ।

[1] शास्त्रविधि याने अनुभवज्ञानवाले सत्पुरुषों का अनुभव किया हुआ संयम मार्ग ।

—मो० क० गांधी

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्पर संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शांतिमचिरेणाधिगच्छति ॥
(भ० गी० ४।३९)

श्रद्धावान, ईश्वर-परायण तथा जितेंद्रिय पुरुष ज्ञान पाता है और ज्ञान पाकर तुरन्त परम शान्ति को पाता है ।

श्रद्धामयोऽयं पुरुष योयच्छ्रद्धः स एव स ।
(भ० गी० १७।३)

मनुष्य मे कुछ-न-कुछ श्रद्धा तो होती ही है । जैसी जिसकी श्रद्धा, वैसा वह होता है ।

अज्ञश्चाऽश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
(भ० गी० ४।४०)

जो अज्ञानी और श्रद्धा-रहित होकर सशयवान् है, उसका नाश होता है ।

सात्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी ।
तामस्यधर्मे या श्रद्धा मत्सेवायां तु निर्गुणा ॥
(श्री० भा० ११।२५।२७)

(भगवान उद्धव से कहने है कि) आत्मज्ञान-विषयक श्रद्धा सात्विकी, कर्म-विषयक श्रद्धा राजसी और अधर्म-विषयक श्रद्धा तामसी होती है ; लेकिन जो मुझमे (ईश्वर मे) होती है, वह निर्गुणी है ।

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ।।

(भ० गी० १७।२)

(श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते है कि) मनुष्य मे स्वभाव से ही जो तीन प्रकार की श्रद्धा, अर्थात् सात्विक, राजसी और तामसी होती है, वह तू सुन ।

यजन्ते सात्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ।।

(भ० गी० १७।४)

सात्विक श्रद्धावाले देवताओ को भजते है, राजसी श्रद्धावाले लोग यक्षों और राक्षसो को भजते है और तामसी श्रद्धावाले भूत-प्रेतादि को भजते है ।

: ३० :

नीति

नीतिरस्मि जिगीषताम् ।।

(भ० गी० १०।३८)

श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते है कि जय चाहनेवालों मे मैं नीति हू ।

कुलीनमकुलीनं वा वीरं पुरुषमानिनम् ।
चरित्रमेव व्याख्याति शुचिं वा यदि वाऽशुचिम् ।।

(वा० रा० २।१०९।४)

मनुष्य स्वत कुलीन है या अकुलीन, वीर है या मिथ्याभिमानी, पवित्र है या अपवित्र, यह उसका चरित्र बता देता है ।

गुणाधिकान्मुदं लिप्सेदनुक्रोशं गुणाधमात् ।
मैत्री समानादन्विच्छन्न तापैरभिभूयते ॥
(श्री० भा० ४।८।३४)

जो अपने से अधिक गुणवालो को देखकर आनन्दित होता है, अपने से हीन गुणवालो को देखकर द्रवित होता है, और अपने समान गुणवालो को देखकर उनके साथ मित्रता करने की इच्छा रखता है, वह किसी भी ताप से पीडित नही होता ।

वयसः कर्मणोऽर्थस्य श्रुतस्याभिजनस्य च ।
वैषवाग्बुद्धिसारूप्यमाचरन् विचरेदिह ॥
(म० स्मृ० ४।१८)

मनुष्य को अपनी आयु, कर्म, सपत्ति, विद्या और कुल का ध्यान रखकर ही अपने वेष, भाषा और बुद्धि का उपयोग करना चाहिए और तदनुसार बरतना चाहिए ।

दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं पिबेज्जलम् ।
सत्यपूतां वदेद् वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥
(श्री० भा० ११।१८।१६)

मनुष्य को आगे देखकर पैर रखना चाहिए, कपड़े से छानकर जल पीना चाहिए, सत्य से पवित्र हुई वाणी बोलनी चाहिए और पवित्र मन से विचारकर आचरण करना चाहिए ।

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ।
(भ० नी० ७४)

नीति-निपुण पुरुष निन्दा करें या स्तुति, लक्ष्मी आये या जाय, मृत्यु आज आये या एक युग बाद आये, धीर पुरुष नीति-मार्ग से कभी पीछे नही हटते ।

एकः स्वादु न भुञ्जीत एकश्चार्थान्न चिन्तयेत् ।
एको न गच्छेदध्वानं नैकः सुप्तेषु जागृयात् ।।
(म० भा० ५।३३।५१)

मनुष्य अकेला भोजन न करे, अर्थ की चिन्ता अकेले न करे, अनजान रास्ते पर अकेले न जाय और सब लोग सोये हुए हो तो वह अकेला न जागे ।

एको धर्मः परं श्रेयः क्षमैका शान्तिरुत्तमा ।
विद्यैका परमा तृप्तिरहिंसैका सुखावहा ।।
(म० भा० ५।३३।५२)

धर्म ही एक श्रेयस्कर कार्य है, सहनशीलता ही एक उत्तम शान्ति-दायी चीज है, विद्या ही परमतृप्तिकारक वस्तु है और एक अहिंसा—किसी को दुःख न देना—सुख देनेवाली चीज है ।

द्वाविमौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव ।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ।।
(म० भा० ५।३३।५७)

दुश्मन का विरोध न करनेवाले राजा और देशाटन न करनेवाले ब्राह्मण—इन दोनो को अपनी जन्म-भूमि उसी प्रकार ग्रस लेती है, जैसे बिल मे सोये हुए चूहे को साप ग्रस लेता है ।

हरणं च परस्वानां परदाराभिमर्शनम् ।
सुहृदश्च परित्यागस्त्रयो दोषाः क्षयावहाः ।।
(म० भा० ५।३३।६६)

दूसरे के धन का हरण, परस्त्री का सेवन और मित्र का त्याग—ये तीन दोप ऐसे है, जो मनुष्य को नष्ट कर देते है ।

दातृत्वं प्रियवक्तृत्वं धीरत्वमुचितज्ञता ।
अभ्यासेन न लभ्यन्ते चत्वारः सहजा गुणाः ।।
(चा० नी० ११।१)

उदारता, प्रिय बोलना, धीरज और सही चीजो की पहचान—ये चार गुण अभ्यास से प्राप्त नही होते, परन्तु ये सहज—जन्म के साथ उत्पन्न होते हैं ।

चत्वारि ते तात ! गृहे वसन्तु
श्रियाभिजुष्टस्य गृहस्थधर्मे ।
वृद्धो ज्ञातिरवसन्नः कुलीनः
सखा दरिद्रो भगिनी चाऽनपत्या ।।
(म० भा० उ० ५।३३।१०)

हे तात ! सुख-सपत्ति से युक्त तुम्हारे घर मे वृद्धसम्बन्धी, कुलीन दुखी जन, गरीब मित्र और पुत्र-हीन बहन के लिए सदा स्थान रहे ।

आयु: कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च ।
पञ्चैतानि हि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः ।।
(चा० नी० १।४)

आयु, कर्म, धन, विद्या और मृत्यु—ये पाच चीजें गर्भ से मनुष्य के साथ ही उत्पन्न होती है ।

पञ्चाग्नयो मनुष्येण परिचार्याः प्रयत्नतः ।
पिता माताऽग्निराप्तश्च गुरुश्च भरतवर्षभ ।।
(म० भा० ५।३३।७४)

मनुष्य को माता, पिता, अग्नि, सम्बन्धी तथा गुरु—इन पाचो को अग्नि के समान सम्हाल रखनी चाहिए ।

ईर्ष्युर्घृणी न सन्तुष्टः क्रोधनो नित्यशङ्कितः ।
परभाग्योपजीवी च षडेते नित्य दुःखिताः ।।
(म० भा० ५।३३।६४)

ईर्ष्या करनेवाले, घृणा करनेवाले, असन्तोषी, क्रोधी, शंकाशील और दूसरे के भाग्य पर जीवित रहनेवाले—ये छ प्रकार के व्यक्ति हमेशा दुखी रहते है ।

अग्निरापः स्त्रियो मूर्खाः सर्पो राजकुलानि च ।
नित्यं यत्नेन सेव्यानि सद्यःप्राणहराणि षट् ।।
(चा० नी० १४।१२)

अग्नि, जल, स्त्री, मूर्ख, साप और राजकुटुम्ब इन छहो का सावधानी

से सेवन करना चाहिए। इसमे असावधानी रखने से तुरन्त प्राणो पर सकट आता है।

षड् दोषा पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता।
निद्रा तन्द्रा भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता॥
(म० भा० ५।३३।८३)

अपनी उन्नति चाहनेवाले को इन छ दोषो का त्याग करना चाहिए—अधिक सोना, तन्द्रा, भय, क्रोध, आलस्य और दीर्घ-सूत्रता यानी थोडे समय मे हो सकनेवाले कार्य को अधिक समय तक न करना।

विद्यार्थी सेवक· पान्थ· क्षुधार्तो भयकातर·।
भाण्डारी प्रतिहारश्च सप्त सुप्तान् प्रबोधयेत्॥
(चा० नी० ९६)

विद्यार्थी, सेवक, पथिक, भूखे, डर से व्याकुल हुए, भण्डारी—भण्डार की रक्षा करनेवाले और द्वारपाल सो गये हो तो उन्हे सात को जगा देना चाहिए।

अहि नृपं च शार्दूलं विटं च बालकं तथा।
परश्वानं च मूर्खं च सप्त सुप्तान्न बोधयेत्॥
(चा० नी०९।७)

साप, राजा, सिह, धूर्त, दूसरे के कुत्ते, बालक और मूर्ख इन सात को सोते से नही जगाना चाहिए।

राजा वेश्या यमश्चाग्निस्तस्करो बालयाचकौ।
परदु खं न जानन्ति ह्यष्टमो ग्रामकण्टक:॥
(चा० नी० १७।१९)

राजा, वेश्या, यम, अग्नि, चोर, बालक, मागनेवाला और गाँव का दुर्जन—ये आठ लोग दूसरे का दु:ख नही जानते।

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति
प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतं च।
पराक्रमश्चाऽबहुभाषिता च
दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च॥
(म० भा० ५।३३।१०२)

उत्तम बुद्धि, कुलीनता, इन्द्रिय-दमन, शास्त्र-ज्ञान, पराक्रम, मित भाषण, शक्ति के अनुसार दान करना और दूसरो के किये उपकार के प्रति कृतज्ञता—ये आठ गुण पुरुष को चमकाते है।

दश धर्मं न जानन्ति धृतराष्ट्र निबोध तान्।
मत्तः प्रमत्तः उन्मत्तः श्रान्त क्रुद्धो बुभुक्षितः॥
त्वरमाणश्च लुब्धश्च भीत. कामी च ते दश॥
(म० भा० ५।३३-१०५-६)

मदहोश, गाफिल, पागल, थका हुआ, क्रोधी, भूखा, जल्दबाज, लोभी, भयभीत और कामी ये दस लोग धर्म नही जानते।

आपदर्थे धनं रक्षेद् दारान् रक्षेद्धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेत दारैरपि धनैरपि॥
(चा० नी० ११६)

आपत्काल के लिए धन की रक्षा करनी चाहिए, धन के द्वारा स्त्री

की रक्षा करनी चाहिए, परतु धन और स्त्री की अपेक्षा अपनी आत्मा की रक्षा हमेशा करनी चाहिए।

द्वाविमौ कण्टकौ तीक्ष्णौ शरीरपरिशोषिणौ ।
यश्चाधनः कामयते यश्च कुप्यत्यनीश्वर ॥
(म० भा० ५।३३।६०)

शरीर का शोषण करनेवाले ये दो तीक्ष्ण काटे है—निर्धन होते हुए लौकिक सुख की कामना करना तथा सत्ताहीन होकर दूसरे पर गुस्सा करना ।

यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यास्र्थास्तस्य बान्धवाः ।
यस्यार्थाः स पुमान् लोके यस्यार्थाः स च पण्डितः ॥
(पंचतंत्र)

इस ससार मे जिसके पास धन है, उसके ही सब मित्र है, उसके ही बन्धु-वान्धव भी होते है, और वही मनुष्य तथा पण्डित माना जाता है।

अधनाद्धि निवर्तन्ते ज्ञातय· सुहृदो द्विजाः ।
अपुष्पादफलाद्वृक्षात् यथा कृष्ण पतत्रिण· ॥
(म० भा० ५।१२।३०)

निर्धन मनुष्य के पास से जाति-जन, अन्तरग मित्र, और ब्राह्मणादि अन्य वर्ग उसी प्रकार चले जाते है जिस प्रकार फल-फूल-रहित वृक्ष पर से पक्षी उड जाते है ।

घृतिर्दाक्ष्यं संयमो बुद्धिरात्मा
धैर्यं शौर्यं देशकालाप्रमादः ।

अल्पस्य वा बहुनो वापि वृद्धयै
धनस्यैतान्यष्ट समिन्धनानि ॥
(म० भा० शां० १२०।३७)

स्थिरता, चतुराई, सयम, निश्चय, मन की स्वाधीनता, धीरज, शौर्य और देश-काल की परिस्थिति का विचार करने मे प्रमाद न करना—ये धन की प्राप्ति मे उसी प्रकार सहायता करते है, जिस प्रकार अग्नि को प्रज्ज्वलित करने मे ईधन काम देता है।

: ३१ :

सत्कार्य

सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥
(भ० गी० २।३४)

सम्मानित पुरुष के लिए अपकीर्ति मृत्यु से भी बुरी है।

श्वःकार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् ।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतं वाऽस्य न वा कृतम् ॥
(म० भा० १२।३२१।७३)

सत्कार्य कल करने को हो तो उसे आज ही करो, शाम को करने को सोचा हो तो उसे अभी कर डालो, क्योंकि मृत्यु यह राह नहीं देखेगी कि इस मनुष्य ने कल एक शुभ काम करने का सकल्प किया है, उसे कर लेने दिया जाय।

यो नात्मजे न गुरवे न च बन्धुवर्गे
दीने दयां न कुरुते न च भृत्यवर्गे।
किं तस्य जीवितफलं हि मनुष्यलोके
काकोऽपि जीवति चिरं च बलिं च भुङ्क्ते॥
(पचतत्र १।११)

जो मनुष्य न तो पुत्र पर, न गुरु पर, न बन्धु-बान्धवो और न सेवको पर दया करता है, तो उसके जीवन का फल क्या है? क्योकि एक कौआ भी लम्बे समय तक जीता है, और उसे भी खाने को मिल ही जाता है।

यावद्भ्रियेत जठरं तावत्स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥
(श्री० भा० ७।१४।८)

मनुष्य का अधिकार केवल उतने ही धन पर है जितने से उसका भरण-पोषण होता है। उससे अधिक संपत्ति को जो अपनी मानता है वह चोर है और दण्ड का भागी है।

अव्यापारः परार्थेषु नित्योद्योगः स्वकर्मसु।
रक्षणं समुपात्तानामेतद्वैभवलक्षणम्॥
(म० भा० २।५४।७)

पराये धन को हथियाने का प्रयत्न न करना, अपने कर्तव्य के प्रति नित्य उद्यम करते रहना, और जो प्राप्त हुआ है, उसका रक्षण करना, ये वैभव के लक्षण हैं।

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य ।
यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥
(भर्तृ० नी० ३४)

दान, भोग और नाश—धन की ये तीन गतियां होती है। जो पुरुष न दान देता है, और न भोग करता है, उसके धन की तीसरी गति (नाश) होती है।

भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमै-
नवाम्बुभिर्भूरि विलम्बिनो घनाः ।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥
(भर्तृ० नी० ७०)

फल आने पर वृक्ष भार से झुक जाते है, पानी-भरे बादल भार से नीचे झुके रहते हैं। उसी प्रकार सत्पुरुष समृद्धि पाने पर विनम्र हो जाते हैं, क्योकि समृद्धियो मे नम्र हो जाना परोपकार करनेवालों का स्वभाव ही होना है।

श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन
दानेन पाणिर्न तु कंकणेन ॥
विभाति कायः करुणापराणां
परोपकारैर्न तु चन्दनेन ॥
(भर्तृ० नी० ७१)

कानो की शोभा उत्तम शास्त्रो के सुनने से ही होती है, कुंडलों से नहीं; हाथ की शोभा दान से होती है कंकण से नहीं; दयालु पुरुषों का शरीर परोपकार से शोभित होता है, चन्दन का लेप करने से नही।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम् ।।
(भ० गी० १७।२०)

दान देना उचित है, ऐसा समझकर, बदला मिलने की आशा के विना, देश, काल और पात्र को देखकर जो दान दिया जाता है, उसे सात्विक दान कहा गया है ।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ।।
(भ० गी० १७।२१)

जो दान बदला मिलने के लिए अथवा फल को लक्ष्य करके और दुःख के साथ दिया जाता है, वह राजसी दान कहा गया है ।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञात तत्तामसमुदाहृतम् ।।
(श्री भ० गी० १७।२२)

देश, काल और पात्र का विचार किये विना, असम्मान तथा तिरस्कार से दिया हुआ दान तामसी दान कहलाता है ।

अभिगम्योत्तमं दानमाहूयैव तु मध्यमम् ।
अधमं याचमानाय सेवादानं तु निष्फलम् ।।
(पा० स्मृ० १।२६)

सुपात्र लोग जहां हो वहा जाकर दान देना उत्तम दान माना जाता है। दान लेनेवाले को अपने यहा बुलाकर दान देना मध्यम कोटि का दान है। याचक को दिया गया दान अधम दान होता है तथा सेवा के बदले मे दिया गया दान निष्फल होता है।

धर्मार्थं ब्राह्मणेदानं यशोऽर्थं नट नर्तके।
भृत्येषु भरणार्थं वैभवार्थं चैव राजसु॥
(म० भा० ३।३१३।८०)

ब्राह्मण (सत्पुरुष) को जो दान दिया जाता है, वह धर्म के लिए होता है, नाचनेवालो या नटो को जो दान दिया जाता है, वह यश के लिए है, जो नौकरो को दिया हुआ है वह अपनी ही सेवा के लिए होता है और राज-वर्ग को जो दान दिया जाता है, वह अपनी महत्ता या वैभव बढाने के लिए होता है।

शूरा वीराश्च शतशः सन्ति लोके युधिष्ठिर !।
येषां संख्यायमानानां दानशूरो विशिष्यते॥
(म० भा० १३।८।११)

हे युधिष्ठिर ! इस लोक मे सैकडो प्रकार के शूरवीर लोग होते हैं। इनमें संख्या की दृष्टि से दानशूर ही विशिष्ट माने जाते है।

अर्थिनामुपपन्नानां पूर्वं चाप्युपकारिणाम्।
आशां संश्रुत्य यो हन्ति स लोके पुरुषाधमः॥
(वा० रा० ४।३०।७१)

याचना करनेवालो, शरणो मे आये हुओ और अपना उपकार करनेवालो की इच्छा-पूर्ति का आश्वासन देकर जो लोग उनको निराश करते है, वे पुरुष अधम माने जाते है।

न तेभ्योऽपि धनं देय शक्ये सति कथंचन।
पापेभ्योऽपि धनं दत्तं दातारमपि पीडयेत्॥
(म० भा० शां० १०६।१७)

जहातक हो सके पापियो को किसी भी प्रकार से धनादि की सहायता न दी जाय, क्योकि पापियो को दिया गया धन दाता को पीडा—पाप पहुचानेवाला हो जाता है।

: ३२ :

शुचिता

शौचाचारविहीनस्य समस्ता निष्फलाः क्रियाः।
शौचं च द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा॥
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिरथान्तरम्।
अशौचाद्धि वरं बाह्यं तस्मादाभ्यन्तरं वरम्॥
उभाभ्यां तु शुचिर्यस्तु स शुचिर्नेतरः शुचिः॥
(द० स्मृ० ५।२।३।४)

शौच और आचार-रहित व्यक्ति की सारी क्रियाए निष्फल होती है। वाह्य और आभ्यतर ये दो प्रकार की शुद्धि (शौच) कही जाती है। मिट्टी और जल से वाह्य शुद्धि की जाती है और अतःकरण (भावो) की शुद्धि आभ्यतर शुद्धि कही जाती है। शुद्धि का बिलकुल पालन न करने की अपेक्षा वाह्य शुद्धि श्रेष्ठ होती है और वाह्य शुद्धि की अपेक्षा आभ्यतर शुद्धि श्रेष्ठ होती है। जो व्यक्ति दोनो प्रकार से शुद्ध है वही पवित्र माना जाता है, अन्य नही।

सर्वेषामेव शौचानामर्थं शौचं परं स्मृतम् ।
योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः ॥
(म० स्मृ० ५।१०६)

सब प्रकार की शुद्धियो मे नीति (न्याय) से द्रव्य प्राप्त करना सबसे श्रेष्ठ शुद्धि कहलाती है। द्रव्य के विषय मे जो शुद्धि का पालन करता है, वही सच्ची शुद्धि मानी जाती है। मिट्टी और जल से जो शुद्धि की जाती है, वह कभी सपूर्ण शुद्धि नही मानी जा सकती।

स्त्रीशौचमर्थशौचं च वाक्शौचमपि च द्विजाः ।
एतानि यस्य शौचानि स शुचिः परिकीर्तितः ॥
ततश्चाप्यधिक शौचमहिसा परिकीर्तिता ।
(वि० ध० ३।२४६।५-६)

स्त्री-शुद्धि, द्रव्य-शुद्धि, और वाणी की शुद्धि का पालन करनेवाला शुचि-शुद्ध माना जाता है। पर उससे भी बड़ी शुद्धि तो अहिंसा है।

अभक्ष्यपरिहारश्च संसर्गश्चाप्यनिन्दितैः ।
आचारेषु व्यवस्थानं शौचमित्यभिधीयते ॥
(अ० स्मृ० ३४)

अभक्ष्य पदार्थो का न खाना, अनिंदित लोगो का सपर्क तथा स्नानादि सदाचारों मे निष्ठा रखना शौच (शुद्धि) कहा जाता है।

शौचेन हीना नरकं व्रजंति शौचेन हीना विभजन्त्यनर्थान् ।
शौचेन हीनाश्च भवन्ति निन्द्यास्तस्मादशौचं परिवर्जनीयम् ।
(वि० ध० २४६।७)

शौच-हीन जन अनर्थों का आचरण करते हैं, वे नरक मे जाते हैं और जन-निंदा के पात्र होते है, इस कारण अशौच (अशुद्धि) का त्याग करना चाहिए।

: ३३ :

आहार-शुद्धि

आयुः — सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विकप्रियाः॥
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजन तामसप्रियम्॥
(भ० गी० १७।८-१०)

आयुष्य, सात्विकता, बल, आरोग्य, सुख और रुचि बढानेवाले, रसदार, चिकने, पौष्टिक और मन को रुचिकर आहार सात्विक लोगो को प्रिय होते है।

तीखे, खट्टे, खारे, बहुत गरम, चरपरे, रूखे दाहकारक आहार राजस लोगो को प्रिय होते है और वे दु ख, शोक तथा रोग उत्पन्न करनेवाले होते हैं।

प्रहर-भर से पडा हुआ, नीरस, दुर्गंधित, बासी, जूठा, अपवित्र भोजन तामस लोगो को प्रिय होता है।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥
(भ० गी० ३।१३)

जो यज्ञ से बचा हुआ खानेवाले है, वे सब पापों से छूट जाते हैं। जो अपने ही लिए पकाते है, वे पाप खाते है।

दीपो भक्षयते ध्वान्तं कज्जलं च प्रसूयते।
यदन्नं भक्षयेन्नित्यं जायते तादृशी प्रजा॥
(चा० नी० ८।३)

दीपक अंधकार का भक्षण करता है और परिणामस्वरूप काजल को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार मनुष्य जैसा अन्न खाता है, वैसी ही उसकी बुद्धि और संतानें होती है।

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्याच्चान्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति॥
(म० स्मृ० ५।४)

अधिकारी होने पर भी वेदों का अभ्यास न करने से, सदाचार का त्याग करने से, धर्म-पालन में आलस्य करने से तथा अन्नदोष अर्थात् अभक्ष्य तथा अपवित्र भोजन करने से काल ब्राह्मणों का भी विनाश करता है।

: ३४ :

स्वास्थ्य

द्विविधो जायते व्याधिः शारीरो मानसस्तथा।
परस्परं तयोर्जन्म निर्द्वन्द्वं नोपलभ्यते॥
शारीराज्जायते व्याधिर्मानसो नात्र संशयः।
मानसाज्जायते वाऽपि शारीर इति निश्चयः॥
(म० भा० शां० १६।८-९)

शरीर तथा मन दोनो से व्याधि उत्पन्न होती है, परन्तु शारीरिक तथा मानसिक दोनो प्रकार की व्याधियो का जन्म शरीर तथा मन दोनो से होता है, एक से नही।

इसमे शक नही कि शारीरिक व्याधि से मानसिक व्याधि और मानसिक व्याधि से शारीरिक व्याधि का जन्म होता है।

शीतोष्णे चैव वायुश्च त्रयः शारीरजा गुणाः।
तेषां गुणानां साम्यं यत्तदाहुः स्वस्थलक्षणम्॥
(म० भा० शा० १६।११)

कफ, पित्त और वात ये तीन शरीर के गुण है। इन तीनो की साम्यावस्था शरीर की स्वस्थता का लक्षण है।

सत्वं रजस्तम इति मानसाः स्युस्त्रयो गुणाः।
तेषां गुणानां साम्यं यत्तदाहु स्वस्थलक्षणम्॥
(म० भा० शा० १६।१३)

सत्व, रज और तम ये तीनो मन के गुण है। इन तीनो गुणो का साम्य मानसिक स्वस्थता का लक्षण है।

समदोषः समाग्निश्च समधातु-मलक्रियः।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते॥
(वै० सु० भावमिश्र)

जिसके वात, कफ, पित्त और अग्नि समान होते है, धातुएँ तथा मल-क्रिया समान होती है, इसी प्रकार बुद्धि, इद्रिय तथा मन जिसके प्रसन्न और निर्मल होते है, वह मनुष्य स्वस्थ कहलाता है।

लोभ-शोक-भय - क्रोध - मान - वेगान्विधारयेत् ।
नैर्लज्ज्येर्ष्यातिरागाणामभिध्यायाश्च बुद्धिमान् ।।

बुद्धिमान् पुरुष को लोभ, शोक, भय, क्रोध और मान इन आवेगो तथा निर्लज्जता, ईर्ष्या, अति प्रीति और पराये धन की इच्छा को रोकना चाहिए।

परुषस्यातिमात्रस्य सूचकस्यानृतस्य च ।
वाक्यस्याऽकालयुक्तस्य धारयेद्वेगमुत्थितम् ।।

मनुष्य को चुगली खाने, कठोर, असत्य और असमय भाषण से उत्पन्न आवेगो को रोकना चाहिए।

देह प्रवृत्तिर्या काचिद्विद्यते परपीडया ।
स्त्रीभोग-स्तेय-हिंसाद्या तस्या वेगान्विधारयेत् ।।

पर-स्त्री-सग, चोरी और हिंसा आदि दूसरे को पीड़ा पहुचानेवाले शारीरिक आवेगो से अपनेको रोकना चाहिए।

पुण्यशब्दो विपापत्वान्मनोवाक्कायकर्मणाम् ।
धर्मार्थकामान्पुरुषः सुखी भुङ्क्ते चिनोति च ।।
(च० सू० ७।२७-३०)

पवित्र कीर्तिवाला मनुष्य मन, वचन और शरीर के निष्पाप होने से सुखी होता है, धर्म, अर्थ और काम का भोग करता है और उनका सचय भी करता है।

: ३५ :

व्यसन-त्याग

दशकामसमुत्थानि तथाऽष्टौ क्रोधजानि च ।
व्यसनानि दुरन्तानि यत्नेन परिवर्जयेत ।।
(म० स्मृ० ७।४५)

दु खकारक परिणामवाले दस व्यसन काम से उत्पन्न होते है और आठ व्यसन क्रोध से उत्पन्न होते है। अत प्रयत्नपूर्वक इन सबका त्याग करना चाहिए ।

मृगयाऽक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः ।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ।।
(म० स्मृ० ७।४७)

शिकार करना, जुआ खेलना, दिन मे सोना, दूसरे के दोषो का वर्णन करना, स्त्री-चिंतन, मदिरापान, नाचना, गाना, बजाना और निरुद्देश्य भटकना—ये दस काम से उत्पन्न व्यसन है ।

पैशुन्यं साहसं द्रोह इर्ष्याऽसूयार्थदूषणम् ।
वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ।।
(म० स्मृ० ७।४८)

चुगलीखाना, विना विचारे काम करना, द्वेष करना, दूसरे के गुणो को सहन नही करना, दूसरे के गुणो मे दोष देखना, दूसरे की वस्तु लेना या ली हुई वापस न देना, कठोर वचन बोलना, मार-पीट करना—ये आठ प्रकार के क्रोध से उत्पन्न व्यसन होते है ।

द्वयोरप्येतयोर्मूलं यं सर्वे कवयो विदुः ।
तं यत्नेन जयेल्लोभं तज्जावेतावुभौ गणौ ।।
(म० स्मृ० ७।४९)

विद्वान लोग लोभ को काम और क्रोध का मूल कहते है। अतः लोभ को खास तौर से जीतना चाहिए, क्योंकि ऊपर बताये दोनो प्रकार के काम तथा क्रोध मे उत्पन्न व्यसन लोभ से ही उत्पन्न होते है।

व्यसनस्य च मृत्योश्च व्यसनं कष्टमुच्यते ।
व्यसन्यधोऽधो व्रजति स्वर्यात्यव्यसनी मृतः ।।
(म० स्मृ० ७।५३)

व्यसन और मृत्यु इन दो मे से व्यसन अधिक कष्टकारक है, क्योंकि व्यसनी मनुष्य नीचे-ही-नीचे गिरता जाता है, जबकि व्यसन-रहित मनुष्य स्वर्ग मे (ऊची तरफ) जाता है।

: ३६ :

विवेक-विचार

सहसा विदधीत न क्रियाम्
अविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणते हि विमृश्यकारिणं
गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः ॥
(भा० कि० २।३)

कोई भी काम उतावली मे विना विचारे न करो, क्योकि अविवेक बडी आपत्तियो का कारण होता है। पूरा तरह विचार करके काम करनेवाले मनुष्य को गुणो की लोभी सम्पत्तिया स्वय ही आकर वरण करती है।

मूर्खा यत्र न पूज्यन्ते धान्यं यत्र सुसंचितम् ।
दाम्पत्यकलहो नास्ति तत्र श्री स्वयमागता ।।
(चा० नी ३।२१)

जहा मूर्खो की पूजा नही होती, जहा धान्य अच्छी तरह इकट्ठा होता है और जहा पति-पत्नी मे कलह नही होता, वहा सपत्ति स्वय आकर वास करती है।

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञ ।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि नरं न रंजयति ।।
(भर्तृ० नीति० ३)

मूर्ख मनुष्य को सहज वश मे किया जा सकता है। विशेप ज्ञान से सपन्न मनुष्य को मूर्ख मनुष्य की अपेक्षा सुगमता से वश मे किया जा सकता है। परन्तु जरा-से ज्ञान से जो मनुष्य अपनेको पूर्ण ज्ञानी समझता हो, ऐसे दुराग्रही मनुष्य को ब्रह्मा भी खुश नही कर सकते।

विभूतीः प्राप्य परमाः सतां संभोग्यतां व्रजेत ।
यासु सन्तो न तिष्ठन्ति ता वृथैव विभूतयः ।।
(का० नी० ४।१३)

मनुष्य को उत्तम संपतिया—वैभव प्राप्त करके इस प्रकार वरतना चाहिए कि जिससे वे सज्जनो के उपयोग में आवें, क्योंकि जिन सपत्तियो से सज्जन पुरुषो की सेवा नहीं होती वे व्यर्थ हैं।

असद्भिरसतामेव भुज्यन्ते धनसंपदः।
फलं किंपाकवृक्षस्य ध्वांक्षा भक्षन्ति नेतरे ॥
(का० नी० ४।१३ ब०)

दुर्जनो की सपत्ति का भोग दुर्जन ही करते है। जैसे किंपाक वृक्ष के फल (निंबोली) कौए ही खाते है, और कोई नही खाता।

कश्चिदाम्रवणं छित्त्वा पलाशांश्च निषिञ्चति।
पुष्पं दृष्ट्वा फले गृध्नुः सः शोचति फलागमे ॥
(वा० रा० २।६३।८)

अज्ञानी मनुष्य पलाश के सुन्दर फूलो से लुब्ध होकर आम के वृक्षों को काटकर पलाश के वृक्षो को सीचता है, लेकिन जब उसने फलने का समय आता है, तब उसे शोक ही करना पडता है, क्योकि पलाश का वृक्ष आम जैसे फल तो देता नही।

शास्त्रोपस्कृतशब्दसुंदरगिरः शिष्यप्रदेयागमा
विख्याताः कवयो वसन्ति विषये यस्य प्रभोर्निर्धनाः।
तज्जाड्यं वसुधाधिपस्य कवयो ह्यर्थं विनापीश्वराः
कुत्स्याः स्युः कुपरीक्षका हि मणयो यैरर्घतः पातिताः ॥
(भर्तृ० नीति० १५)

जिनकी वाणी शास्त्रो के सस्कारयुक्त शब्दो से सुन्दर होती है तथा जिनके शास्त्र शिष्यो को सिखाये जाने योग्य होते है, ऐसे प्रसिद्ध कवि जिस राजा के राज्य मे गरीबी से दु ख पाते है, तो कवियो की वह निर्धनता उस राजा की जडता ही मानी जाती है, क्योकि कवि लोग तो धन के विना भी समर्थ होते है। जैसे हीरे के पारखी अगर हीरे की ठीक कीमत नही आकते तो उससे वह परीक्षक ही निंदा के योग्य ठहरता है, हीरे की कीमत तो उसमे स्थिर ही है।

अधिगतपरमार्थान्पण्डितान्मावमंस्था-
स्तृणमिव लघुलक्ष्मीर्नैव तान्संरुणद्धि।
अभिनवमदलेखाश्यामगण्डस्थलानां
न भवति बिसतन्तुर्वारणं वारणानाम्॥
(भर्तृ० नी० १७)

ऐसे पडितो की अवमानना मत करो, जिन्होने विद्या का रहस्य प्राप्त कर लिया है, क्योकि तृण के समान लक्ष्मी उनके मार्ग को रोक नही सकती। कमल के तन्तु भला मदोन्मत हाथियो को कही रोक सकते है?

सद्भावेन हरेन्मित्रं सम्मानेन च बान्धवान्।
स्त्रीभृत्यान्प्रेमदानाभ्यां दाक्षिण्येनेतरांञ्जनान्॥
(का० नी० ३।३३)

मनुष्य सद्भाव-विश्वास के द्वारा मित्रो व स्नेहियो को वश मे करे, आदर-सम्मान के द्वारा अपने बन्धु-बान्धवो को वश मे करे, स्त्री तथा नौकरो को प्रेम तथा दान से वश मे करे और अन्य लोगो को दाक्षिण्य—चतुराई तथा अनुकूल कार्य द्वारा वश मे करे।

न कञ्चिदवमन्येत सर्वस्य शृणुयान्मतम् ।
बालस्याप्यर्थवद्वाक्यमुपयुञ्जीत पण्डितः ।।
(कौ० १ अधि०-१५ अ० मंत्रा०)

समझदार मनुष्य किसीकी अवमानना न करे। सबका मत जाने तथा बालक के भी अर्थ-युक्त वचन पर ध्यान देकर उसका उपयोग करे।

हीनाङ्गानतिरिक्ताङ्गान् विद्याहीनान् वयोधिकान्।
रूपद्रव्यविहीनांश्च जातिहीनांश्च न क्षिपेत् ।।
(म० स्मृ० ४।१४१)

हीन अगवाले, जैसे काने, बहरे, लूले, लगडे आदि, अधिक अगवाले, विद्याहीन, उम्र मे बडे, रूप और धन-रहित तथा जाति-हीन लोगों को हलके शब्दो से संबोधित नही करना चाहिए।

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलोऽनृजुः ।
न स्याद्वाक्चपलश्चैव न परद्रोहकर्मधीः ।।
(म० स्मृ० ४।१७७)

मनुष्य हाथ और पैर मे चपलता न करे (अर्थात् किसीकी वस्तु हाथ से न छीने और पैरो से इधर-उधर न डोले) कुटिल और नेत्र-चपल भी न हो, (अर्थात् पराई स्त्री आदि को न देखे)। वह वाक् चपल भी न बने (अर्थात् किसीको कठोर या बुरा न कहे) और दूसरे की बुराई मे भी मन न लगाये।

पादाभ्यां न स्पृशेदग्निं गुरुं ब्राह्मणमेव च ।
नैव गां च कुमारीं च न वृद्धं न शिशुं तथा ।।

आग, गुरु, ब्राह्मण, गाय, कुमारी कन्या, वृद्ध तथा बालक को पैर से नही छूना चाहिए।

न जातु त्वमिति ब्रूयादापन्नोऽपि महत्तरम्।
त्वंकारो वा वधो वेति विद्वत्सु न विशिष्यते ॥
(म० भा० १३।१६२।५३)

किसी बडी विपत्ति मे होने पर भी अपने से महान् पुरुष को 'तू' कहकर सबोधन न करो, क्योकि 'तू' कहकर सबोधन करना तथा वध करने मे समझदार मनुष्य कोई भेद नही मानते।

अहंकारात्परं नास्ति लोके किञ्चिद्विनाशनम्।
अहंकारेण भूपालाः शतशो निधनं गताः ॥
(वि० ध० ३।२४८।१)

अहकार से बढकर विनाश करनेवाली और कोई वस्तु नही है। इसके कारण सैकडो राजाओ का विनाश हुआ है।

अहंकृतास्तथा नष्टा ब्राह्मणाश्च सहस्रशः।
मान्यामान्यं न जानन्ति कार्याकार्ये त्वहंकृताः ॥
(वि० ध० ३।२४८।२)

हजारों ब्राह्मण अहकारी होने से नष्ट हो गये, क्योकि अहकारी मनुष्य मान्य या अमान्य, कार्य या अकार्य का भेद नही जान सकते।

अहंकृतानां नरके प्रदिष्टा
गतिर्ध्रुवं लोकविनिन्दितानाम् ।
प्राज्ञेन तस्मात्परिवर्जनीयो
दर्पो विनाशैककरः सदैव ॥
(वि० ध० ३।२४८।७)

जगत् मे निन्दित अहकारी मनुष्य की अधोगति ही होती है। अत समझदार मनुष्य को चाहिए कि विनाशकारी होने के कारण अहकार को सदा के लिए त्याग दे।

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं च जीवितम् ॥
(वा० रा० ७।५२।११)

सब पदार्थ अत मे क्षय को प्राप्त होते है और सारे उत्कर्ष अत मे पतन को प्राप्त होते है। इसी प्रकार सारे सयोग अत मे वियोग मे परिणत हो जाते है और यह जीवन भी अत मे मरण को प्राप्त करता है।

शोको नाशयते धैर्यं शोको नाशयते श्रुतम् ।
शोको नाशयते सर्वं नास्ति शोकसमो रिपुः ॥
(वा० रा० २।६२।१५)

शोक धीरज का नाश करता है, शोक गुनी हुई सीख का नाश करता है, संक्षेप मे शोक सब चीजों का नाश करता है, अतः निश्चित है कि शोक के समान कोई शत्रु नही है।

: ३७ :

विविध

सम्प्राप्तमवमानं यस्तेजसा न प्रमार्जति ।
कस्तस्य पौरुषेणार्थो महतोऽप्यल्पचेतसः ।।
(वा० रा० ३।११७।६)

अपने प्रति किये गए अपमान को जो मनुष्य पुरुषार्थ से दूर नही करता, वह ऊपर से बडा होने पर भी निर्बल मनवाला मनुष्य और पुरुषार्थ क्या कर सकता है ?

यस्मिन् रुष्टे भयं नास्ति तुष्टे नैव धनागमः ।
निग्रहोऽनुग्रहो नास्ति स रुष्टः किं करिष्यति ।।
(चा० नी० ९।९)

जिसके क्रोध-युक्त होने पर लोगो को भय नही होता और जिसके प्रसन्न होने पर भी कोई लाभ नही होता, ऐसा मनुष्य रुष्ट होकर क्या कर सकता है ?

ऋणशेषमग्निशेषं शत्रुशेषं तथैव च ।
पुनः पुनः प्रवर्द्धन्ते तस्माच्छेषं न धारयेत् ।।
(म० भा० १२।१४०।५८)

बचा हुआ कर्ज, बची हुई अग्नि और बचा हुआ शत्रु फिर वढ जाता है । इस कारण इनमे से किसीको शेष नही रखना चाहिए ।

नखिनां च नदीनां च शृंगिणां शस्त्रपाणिनाम् ।
विश्वासो नैव कर्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु च ।।
(चा० नी० १।१५)

नखवाले शिकारी प्राणी, नदी, सीगवाले जानवर, हथियार-बन्द मनुष्य, स्त्री और राजकुटुम्बी, इनपर कभी विश्वास नही रखना चाहिए। इनसे सदा सचेत रहना चाहिए।

धनधान्यप्रयोगेषु विद्यासंग्रहणेषु च।
आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्जः सुखी भवेत् ॥
(चा० नी० ७।२)

धन-धान्य की लेन-देन मे, विद्या प्राप्त करने मे, भोजन करने मे तथा व्यवहार मे जो सकोच छोडकर बरतता है, वह सुखी रहता है।

अल्पानामपि वस्तूनां संहतिः कार्यसाधिका।
तृणैर्गुणत्वमापन्नैर्बध्यन्ते मत्तदन्तिनः ॥
(हि० १।३०)

छोटी वस्तुओ का सघ भी कार्य-साधन कर सकता है। छोटे-छोटे तन्तुओ से मिलकर बनी रस्सी से मदोन्मत्त हाथी को बाधा जाता है।

संहतिः श्रेयसी पुंसां विगुणेष्वपि बन्धुषु।
तुषैरपि परिभ्रष्टा न प्ररोहन्ति तण्डुलाः ॥
(हि० १।३६)

साधारण मे माने जानेवाले सम्बन्धियो के साथ भी मिलकर रहना लाभदायक होता है। उनसे विलग होने पर उनकी शक्ति कम हो जाती है। जैसे चावल के ऊपर का छिलका अलग हो जाने पर चावल की अकुर उत्पन्न करने की शक्ति नष्ट हो जाती है।

हस्ती स्थूलतनुः स चांकुशवशः किं हस्तिमात्रोऽकुशः ।
दीपे प्रज्वलिते प्रणश्यति तमः किं दीपमात्रं तमः ।
वज्रेणापि हताः पतन्ति गिरयः किं वज्रमात्रं नगाः ।
तेजो यस्य विराजते स बलवान् स्थूलेषु कः प्रत्ययः ॥
(चा० नी० ११।३)

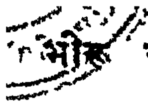
हाथी बडे शरीरवाला होकर भी अकुश के अधीन है, तो क्या अकुश हाथी जितना बडा हुआ ? प्रज्ज्वलित दीपक से अन्धकार का नाश होता है तो क्या अन्धकार दीपक के जितना छोटा है ? वज्र के प्रहार से बडे-बडे पर्वत टूटने लगते है, तो क्या पर्वत वज्र के प्रमाण मे बडा नही होता है ? जिसमे शक्ति होती है, वही बलवान् होता है। स्थूलता का बल से कोई सम्बन्ध ही नही है।

मांसभक्षैः सुरापानैर्मूर्खैश्चाक्षरवर्जितैः ।
पशुभिः पुरुषाकारैर्भाराक्रान्ताऽस्ति मेदिनी ॥
(चा० नी० ८।२२)

मासाहारी, शराबी तथा निरक्षर मूर्ख पशु-तुल्य अविवेकी पुरुषो के भार से यह पृथ्वी आक्रान्त है।

परस्तुतगुणैर्यस्तु निर्गुणोऽपि गुणी भवेत् ।
इन्द्रोऽपि लघुतां याति स्वयंप्रख्यापितैर्गुणैः ॥
(चा० नी० १६।८)

जिस मनुष्य के गुणो की प्रशसा दूसरो के द्वारा की जाती है, वह गुण-रहित होने पर भी गुणवान् है। परन्तु अपने मुह से ही अपनी प्रशसा करने पर तो इन्द्र भी लघुता को प्राप्त हो जाता है।



भीरू राजन्यो ब्राह्मणः सर्वभक्ष्यो,
वैश्योऽनीहावान्हीनवर्णोऽलसश्च ।
विद्वांश्चाशीलो वृत्तहीनः कुलीनः
सत्याद्विभ्रष्टो ब्राह्मणः स्त्री च दुष्टा ॥
रागी युक्तः पचमानोऽऽत्महेतो-
र्मूर्खो वक्ता नृपहीनं च राष्ट्रम् ।
एते सर्वे शोच्यतां यान्ति राजन् ।
यश्चाऽऽयुक्तः स्नेहहीनः प्रजासु ॥
(म० भा० ११।२६३)

डरपोक क्षत्रिय, सर्वभक्षी ब्राह्मण, उद्योग-रहित वैश्य, आलसी शूद्र, शील-रहित विद्वान्, चरित्रहीन कुलीन, सत्य से भ्रष्ट ब्राह्मण, दुष्ट स्त्री, विषयासक्त योगी, अपने ही लिए भोजन पकानेवाला, मूर्ख होते हुए भी उपदेश देनेवाला, राजा (राज्यपाल-प्रमुख) रहित राष्ट्र और प्रजा पर स्नेह न रखनेवाला राज्याधिकारी ये सब, हे राजा, परिणाम में शोक के पात्र ही होते हैं।

विद्या मित्रं प्रवासेषु भार्या मित्रं गृहेषु च ।
व्याधितस्यौषधं मित्रं धर्मो मित्रं मृतस्य च ॥
(चा० नी० ५।१५)

यात्रा में विद्या मित्र है, घर में स्त्री मित्र है, बीमारी में औषधि मित्र है और मरे हुए के लिए धर्म ही मित्र है।

: ३७ :

मगल-कामना

य शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो ।
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः ।।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः ।
सोऽयं वो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः

श्री० ह० मा० १

शैव शिव, वेदान्ती ब्रह्म, बौद्ध, बुद्ध, प्रमाण-विद्या के कुशल नैयायिक कर्त्ता, जैन-शास्त्रो मे अर्हन् तथा मीमासाकार कर्मरूप मे जिसको धारण-ग्रहण करते है, वही त्रिलोकीनाथ श्रीहरि हमे मनोवाछित फल प्रदान करे ।

दुर्जन सज्जनो भूयात् सज्जन. शांतिमाप्नुयात् ।
शांतो मुच्येत बन्धेभ्यो मुक्तश्चान्यान्विमोचयेत् ।।

दुर्जन सज्जन बने, सज्जन शाति प्राप्त करे, शातपुरुष सब प्रकार के बन्धनो से मुक्त हो और मुक्त पुरुष दूसरो को बन्धनो से मुक्त करे ।

काले वर्षतु पर्जन्य पृथिवी शस्य शालिनी ।
देशोऽयं क्षोभरहितो सुप्रजा संतु निर्भया ।।

वृष्टि समय पर हो, पृथ्वी धन-धान्य से परिपूर्ण हो, यह देश क्षोभ रहित हो, प्रजा भय से रहित हो ।

स्वस्ति प्रजाभ्य परिपालयन्ताम्
न्याय्येन मार्गेण मही महीशा ।
गोब्राह्मणेभ्य शुभमस्तु नित्यं
लोका समस्ता सुखिनो भवंतु ।।

प्रजा सुख-शान्ति से रहे, राजा न्याय मार्ग से पृथ्वी का पालन-रक्षण करें, गाय और ब्राह्मणों (समस्त प्राणियों) का सदा शुभ होवे। सारे लोग सुखी रहें।

सर्वेऽत्र सुखिनः सतु सर्वे संतु निरामया ।
सर्वे भद्राणि पश्यतु मा कश्चिद् .खमाप्नुयात् ॥

इस संसार में सब सुखी हों, सब निरोगी रहें, सब शुभ देखें, कोई भी प्राणी दुख न पाये।

स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खलः प्रसीदताम्
ध्यायंतु भूतानि शिवं मिथोधिया ।
मनश्च भद्रं भजतामधोक्षज
आवेश्यतां नो मतिरप्य हैतुकी ॥

समस्त विश्व का कल्याण हो। दुष्ट लोग कुटिलता छोड़े और प्रसन्न रहें। भूत मात्र बुद्धिपूर्वक एक दूसरे का हित साधन करें—कल्याण करें। हमारे मन कल्याण में रत रहें और हमारी बुद्धि निष्काम भाव से भगवान् में लगी रहे।

शिवमस्तु सर्वजगत. परहितनिरताः भवंतु भूतगणा. ।
दोषा प्रयांतु नाशं सर्वत्र सुखी भवतु लोक. ॥

सम्पूर्ण जगत् का कल्याण हो, समस्त भूत प्राणि परहित में रत रहें, दोष नष्ट हों, लोग सर्वत्र सुखी रहें।

शिक्षोपनिषत्

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति । सत्य वद । धर्म चर। स्वाध्यायान्मा प्रमद । आचार्याय प्रिय धनमाहृत्य प्रजातन्तु मा व्यवच्छेत्सी' । सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्रमदितव्यम् कुशलान्न प्रमदितव्यम् । भूत्यै न प्रमदितव्यम् । स्वाध्यायप्रवचनाभ्या न प्रमदितव्यम् । देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् ।

मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । यान्यनवद्यानि कर्माणि । तानि सेवितव्यानि । नो इतराणि । यान्यस्माकं सुचरितानि । तानि त्वयोपास्यानि । नो इतराणि । ये के चास्मच्छ्रेयांसो ब्राह्मणाः । तेषा त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम् । श्रद्धया देयम् अश्रद्धयाऽदेयम् । श्रिया देयम् । ह्रिया देयम् । भिया देयम् । सविदा देयम् ।

अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् । ये तत्र ब्राह्मणा. सम्मर्शिन । युक्ता आयुक्ता । अलूक्षा धर्मकामा स्यु । यथा ते तत्र वर्तेरन् । तथा तत्र वर्तेथा । अथाभ्याख्यातेषु । ये तत्र ब्राह्मणा सम्मर्शिन युक्ता आयुक्ता अलूक्षा धर्मकामा. स्यु । यथा ते तेषु वर्तेरन् । तथा तेषु वर्तेथा । एष आदेश । एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवम् चैतदुपास्यम् ।

वेद का भलीभांति अध्ययन कराकर आचार्य अपने आश्रम मे रहने वाले ब्रह्मचारी विद्यार्थी को शिक्षा देता है, तुम सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो, स्वाध्याय से कभी न चूको, आचार्य के लिए दक्षिणा के रूप मे वाछित धन लाकर दो, (फिर उनकी आज्ञा से गृहस्थ-आश्रम मे

प्रवेश करके) संतान-परपरा को (चालू रखो, उसका) उच्छेद न करना (तुमको) सत्य से कभी नही डिगना चाहिए, धर्म से नही डिगना चाहिए, शुभ कर्मों से कभी नही चूकना चाहिए, उन्नति के साधनो से कभी नही चूकना चाहिए, वेदो के पढने और पढाने मे कभी भूल नही करनी चाहिए, देवकार्य से और पितृकार्य से कभी नही चूकना चाहिए।

तुम माता मे देवबुद्धि करनेवाले बनो, पिता को देवरूप समझनेवाले बनो, आचार्य को देवरूप समझनेवाले बनो, अतिथि को देवतुल्य समझनेवाले होओ। जो-जो निर्दोष कर्म है, उन्हीका तुम्हे सेवन करना चाहिए। दूसरे (दोषयुक्त) कर्मो का आचरण नही करना चाहिए। हमारे (आचरणो मे से भी) जो-जो अच्छे आचरण है उनका ही तुमको सेवन करना चाहिए, दूसरो का कभी नही। जो कोई भी हमसे श्रेष्ठ (गुरुजन एव) ब्राह्मण आयें, उनको तुम्हे आसन-दान आदि के द्वारा सेवा करके विश्राम देना चाहिए। श्रद्धापूर्वक दान देना चाहिए, बिना श्रद्धा के नही देना चाहिए। आर्थिक स्थिति के अनुसार देना चाहिए। लज्जा से देना चाहिए। भय से भी देना चाहिए और (जो कुछ भी दिया जाय, वह सब) विवेकपूर्वक देना चाहिए।

इसके बाद यदि तुमको कर्तव्य के निर्णय करने मे किसी प्रकार की शका हो या सदाचार के विषय मे कोई शका कदाचित हो जाय तो वहा जो उत्तम विचारवाले, परामर्श देने मे कुशल, कर्म और सदाचार मे पूर्णतया लगे हुए, स्निग्ध स्वभाववाले (तथा) एकमात्र धर्म के ही अभिलाषी ब्राह्मण हो, वे जिस प्रकार उन कर्मो मे और आचरणो मे बर्ताव करते हो, उन कर्मों और आचरणो मे वैसे ही तुमको भी बर्ताव करना चाहिए, तथा यदि किसी दोष से लाछित मनुष्यो के साथ बर्ताव करने में (सदेह उत्पन्न हो जाय, तो भी), जो वहा उत्तम विचारवाले, परामर्श देने मे कुशल, सब प्रकार मे यथायोग्य सत्कर्म और सदाचार में भली-भाति लगे हुए, रूखेपन से रहित, धर्म के अभिलाषी (विद्वान्) ब्राह्मण हो, वे जिस प्रकार उनके साथ बर्ताव करें, उनके साथ वैसा ही तुमको भी बर्ताव

करना चाहिए, यह शास्त्र की आज्ञा है, यही (गुरुजनो का अपने शिष्य और पुत्रो के लिए) उपदेश है, यही वेदो का रहस्य है, और यही परम्परागत शिक्षा है, इसी प्रकार तुमको अनुष्ठान करना चाहिए, इसी प्रकार यह अनुष्ठान सबको अवश्य करना चाहिए ।

